महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya

(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)

नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

तुलनात्मक भारतीय साहित्य

निर्धारित पाठ्यपुस्तक

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम

तृतीय सेमेस्टर

चतुर्थ पाठ्यचर्या (अनिवार्य)

पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 16

दूर शिक्षा निदेशालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

1

तुलनात्मक भारतीय साहित्य (निर्धारित पाठ्यपुस्तक)

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक- एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक

कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रथम संस्करण : जून 2018

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना, संयोजन एवं पाठचयन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं टंकण

पुरन्दरदास

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

टंकण कार्य सहयोग (सुब्रह्मण्यम् भारती, तकषि शिवशंकर पिल्लै, प्रतिभा राय, विजय तेंडुलकर, गिरीश कार्नाड एवं विजयदान देथा की कृतियाँ)
सुश्री राधा सुरेश ठाकरे
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

हम उन समस्त साहित्यकारों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं जिनकी कृतियों का उपयोग प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में किया गया है । हम उन समस्त रचनाकारों, अनुवादकों, सम्पादकों, संकलनकर्त्ताओं, सर्वाधिकारधारकों, प्रकाशकों, मुद्रकों एवं इंटरनेट स्रोतों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं जिनकी सहायता से प्रस्तुत पाठ्यपुस्तक में संकलित रचनाओं के पाठ उपलब्ध हुए हैं ।

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यपुस्तक दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- इस पाठ्यपुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विधा	निर्धारित पाठ्य कृतियाँ	कृतिकार	पृष्ठ क्रमांक
01.	ग़ज़ल	किया तुझ इश्क़ ने ज़ालिम ख़राब आहिस्ता आहिस्ता सरोदे ऐश गावें हम अगर वो इश्वासाज़ आवे	वली दक्कनी	05 – 06
02.	कविता	ब्राह्मण भारत तीर्थ धूलि-मन्दिर	रवीन्द्रनाथ टैगोर	07 – 13
03.	कविता	रे विदेशियो ! भेद न हममें सब शत्रुभाव मिट जाएँगे	सुब्रह्मण्यम् भारती	14 – 18
04.	कविता	सबसे ख़तरनाक मेरी बुलबुल	पाश	19 – 21
05.	कविता	क्या तुम जानते हो बिटिया मुर्मू के लिए उतनी दूर मत ब्याहना बाबा !	निर्मला पुतुल	22 – 28
06.	उपन्यास	मछुआरे (चयनित अंश)	तकषि शिवशंकर पिल्लै	29 – 60
07.	उपन्यास	महामोह (चयनित अंश)	प्रतिभा राय	61 – 133
08.	नाटक	ख़ामोश ! अदालत जारी है (चयनित अंश)	विजय तेंडुलकर	134 – 166
09.	नाटक	तुग़लक (चयनित अंश)	गिरीश कार्नाड	167 – 210
10.	कहानी	काबुलीवाला	रवीन्द्रनाथ टैगोर	211 – 218
11.	कहानी	टोबा टेकसिंह	सआदत हसन मंटो	219 – 224
12.	कहानी	दुविधा	विजयदान देथा	225 – 243

सुब्रह्मण्यम् भारती

(1)

रे विदेशियो ! भेद न हममें

हम वन्दे मातरम् कहेंगे !
बार-बार हाँ, बार-बार भारतभू की वन्दना करेंगे।
हम वन्दे मातरम् कहेंगे ॥

ब्राह्मण कुल का हो या अछूत,
जो भी है इस भू पर प्रसूत,
है जन्मजात ही वह महान,
सब जाति-धर्म, सब जन समान।
ऊँच-नीच का भेद भुलाकर, जाति-धर्म का दम न भरेंगे।
हम वन्दे मातरम् कहेंगे ॥1॥

जो भी अछूत, क्या व्यर्थ सभी ?
जन-जीवन में सार्थक न कभी ?
क्या वे चीनी बन जाएँगे ?
हमको कुछ क्षति पहुँचाएँगे ?
यह नितान्त दु:साध्य, असम्भव, ये न विदेशी कभी बनेंगे।
हम वन्दे मातरम् कहेंगे ॥2॥

सहस्र जातियों का देश हमारा,
चाहेगा संबल न तुम्हारा।
माँ के एक गर्भ से जन्मे,
रे विदेशियो ! भेद न हममें।
मनमुटाव से क्या होता है, हम भाई-भाई ही रहेंगे।
हम वन्दे मातरम् कहेंगे ॥3॥

वैर भाव है हममें जब तक,
अध:पतन ही होगा तब तक।
जीवन मधुमय बना रहेगा,
यदि हममें संगठन रहेगा।
यही ज्ञान यदि आ जाए तो, और अधिक हम क्या चाहेंगे ?
हम वन्दे मातरम् कहेंगे ॥4॥

लेकर सबका सबल सहारा,
होगा पूर्णोत्थान हमारा।
ऊँचा जितना माथ रहेगा,
उसमें सबका हाथ रहेगा।
साथ रहेंगे तीस कोटि हम, साथ जिएँगे, साथ मरेंगे।
हम वन्दे मातरम् कहेंगे ॥5॥

दास वृत्ति करते आए हैं,
नीच दास हम कहलाए हैं।
गत जीवन पर लज्जित होएँ,
चिर कलंक मस्तक का धोएँ।
कर लें यह संकल्प कि पहले सरिस न हम परतन्त्र रहेंगे ॥
बार-बार हाँ, बार-बार भारतभू की वन्दना करेंगे।
हम वन्दे मातरम् कहेंगे ॥6॥

* * *

मूल शीर्षक : 'वन्दे मातरम्'

(2)

सब शत्रुभाव मिट जाएँगे

भारत देश नाम भयहारी, जन-जन इसको गाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥

विचरण होगा हिमाच्छन्न शीतल प्रदेश में,
पोत संतरण विस्तृत सागर की छाती पर।
होगा नव-निर्माण सब कहीं देवालय का–
पावनतम भारतभू की उदार माटी पर।
यह भारत है देश हमारा कहकर मोद मनाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥1॥

हम सेतुबन्ध ऊँचा कर मार्ग बनाएँगे,
पुल द्वारा सिंहलद्वीप हिन्द से जोड़ेंगे।
जो बंग देश से होकर सागर में गिरते,
उन जल-मार्गों का मुख पश्चिम को मोड़ेंगे।
उस जल से ही मध्य देश में अधिक अन्न उपजाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥2॥

खोल लिया जाएगा, सोने की खानों को,
खोद लिया जाएगा, स्वर्ण हमारा होगा।
आठ दिशाओं में, दुनियाँ के हर कोने में
सोने का अतुलित निर्यात हमारा होगा।
स्वर्ण बेचकर अपने घर में नाना वस्तु मँगाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥3॥

डुबकी लगा करेगी नित दक्षिण सागर में
लेंगी मुक्ताराशि निकाल हमारी बाँहें
मचलेंगे दुनियाँ के व्यापारी, पश्चिम के–
तट पर खड़े देखते सदा हमारी राहें
कृपाकांक्षी बनकर वे हर वस्तु वांछित लाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥4॥

सिन्धु नदी की इठलाती उर्मिल धारा पर–
उस प्रदेश की मधुर चाँदनीयुत समा में।
केरलवासिनी अनुपमेय सुन्दरियों के संग–
हम विचरेंगे बल खाती चलती नावों में

कर्णमधुर होते हैं तेलुगु गीत उन्हें हम गाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥5॥

खूब उपजता गेहूँ गंगा के कछार में,
ताम्बूल अच्छे हैं कावेरी के तट के,
ताम्बूल दे विनिमय कर लेंगे गेहूँ का –
सिंह समान मरहठों की ओजस् कविता के –
पुरस्कार में उनको हम केरल-गजदन्त लुटाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥6॥

ऐसे यन्त्र बनेंगे, काँचीपुरम् बैठकर –
काशी के विद्वज्जन का संवाद सुनेंगे।
लेंगे खोद स्वर्ण सब कन्नड प्रदेश का –
जिसका स्वर्णपदक के हेतु प्रयोग करेंगे।
राजपूत वीरों को हम ये स्वर्णपदक दे पाएँगे
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥7॥

यहाँ रेशमी वस्त्र बनाकर उन वस्त्रों की –
एक बहुत ऊँची-सी ढेर लगा देंगे हम।
इतना सूती वस्त्र यहाँ निर्माण करेंगे –
वस्त्रों का ही एक पहाड़ बना देंगे हम।
बेचेंगे काशी वणिकों को अधिक द्रव्य जो लाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥8॥

अस्त्र-शस्त्र का, काग़ज़ का उत्पादन होगा,
सदा सत्य वचनों का हम व्यवहार करेंगे।
औद्योगिक, शैक्षणिक शालाएँ निर्मित होंगी –
कार्य में कभी रंचमात्र विश्राम न लेंगे।
कुछ न असम्भव हमें, असम्भव को सम्भव कर पाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥9॥

छतरी बाड़े से, खीले से वायुयान तक –
अपने घर में ही तैयार कराएँगे हम।
कृषि के उपयोगी यन्त्रों के साथ-साथ ही –
इस धरती पर वाहन भव्य बनाएँगे हम।
दुनियाँ को कम्पित कर दें, ऐसे जलयान चलाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥10॥

मन्त्र-तन्त्र सीखेंगे, नभ को भी नापेंगे,
अतल सिन्धु के तल पर से होकर आएँगे।
हम उड़ान भर चन्द्रलोक में चन्द्रवृत्त का –
दर्शन करके मन को आनन्दित पाएँगे।
गली-गली के श्रमिकों को भी शस्त्रज्ञान सिखलाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥11॥

सरस काव्य की रचना होगी और साथ ही –
कर देंगे चित्रित अति सुन्दर चित्र चितेरे।
हरे-भरे, होंगे वन-उपवन, छोटे धंधे –
सुई से, बढ़ई तक के होंगे घर मेरे।
जग के सब उद्योग यहाँ पर ही स्थापित हो जाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥12॥

मात्र जातियाँ दो, नर-नारी अन्य न कोई
सद्वचनों से मार्गप्रदर्शक मात्र श्रेष्ठ है।
अन्य सभी हैं तुच्छ कभी जो पथ न दिखलाते
चिर सुकुमारी अपनी मधुर तमिल वरिष्ठ है।
इसके अमृत के समान वचनों को हम अपनाएँगे।
सब शत्रुभाव मिट जाएँगे ॥13॥

❖❖❖

मूल शीर्षक : 'भारत देशम्'

निर्मला पुतुल

(1)

क्या तुम जानते हो

क्या तुम जानते हो
पुरुष से भिन्न
एक स्त्री का एकान्त ?

घर-प्रेम और जाति से अलग
एक स्त्री को
उसकी अपनी ज़मीन के बारे में
बता सकते हो तुम ?

बता सकते हो
सदियों से अपना घर तलाशती
एक बेचैन स्त्री को
उसके घर का पता ?

क्या तुम जानते हो
अपनी कल्पना में
किस तरह एक ही समय में
स्वयं को स्थापित और निर्वासित
करती है एक स्त्री ?

सपनों में भागती
एक स्त्री का पीछा करते
कभी देखा है तुमने उसे
रिश्तों के कुरुक्षेत्र में
अपने आपसे लड़ते ?

तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के
मन की गाँठें खोलकर
कभी पढ़ा है तुमने
उसके भीतर का
खौलता इतिहास ?

पढ़ा है कभी
उसकी चुप्पी की दहलीज़ पर बैठ
शब्दों की प्रतीक्षा में उसके चेहरे को ?

उसके अंदर वंशबीज बोते
क्या तुमने कभी महसूसा है
उसकी फैलती जड़ों को अपने भीतर ?

क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण ?

बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री-दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा ?

अगर नहीं !
तो फिर क्या जानते हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में ... ?

* * *

(2)

बिटिया मुर्मू के लिए

(एक)

उठो कि
अपने अँधेरे के ख़िलाफ़ उठो
उठो अपने पीछे चल रही साज़िश के ख़िलाफ़
उठो, कि
तुम जहाँ हो वहाँ से उठो
जैसे तूफ़ान से बवण्डर उठता है
उठती है जैसे राख में
दबी चिंगारी

देखो ! अपनी बस्ती के सीमान्त पर
जहाँ धराशायी हो रहे हैं पेड़
कुल्हाड़ियों के सामने असहाय
रोज़ नंगी होती बस्तियाँ
एक रोज़ माँगेगी तुमसे
तुम्हारी ख़ामोशी का जवाब

सोचो ...
तुम्हारे पसीने से पुष्ट हुए दाने
एक दिन लौटते हैं
तुम्हारा मुँह चिढ़ाते
तुम्हारी ही बस्ती की दुकानों पर
कैसा लगता है तुम्हें जब
तुम्हारी ही पहुँच से
दूर होती दिखती हैं
तुम्हारी ही चीज़ें ... ?

(दो)

इन सदियों का क्या है
आएँगी ... जाएँगी ...
क्या अब भी विश्वास करने लायक
बचा है यह समय ?

तुम्हारे विश्वास की जड़ें आख़िर
कितनी गहरी हैं
समय के द्वारा लगातार कुतरे जाने के बावजूद ?
क्या वे पाताल में गई हैं ... ?

जबकि तुम्हारे हिस्से में
भूख और थकान के सिवा
सिवा एक बेहतर ज़िन्दगी की उम्मीद के
शायद कुछ भी नहीं है ...

विडम्बना ही है – कि
सबसे ज़्यादा कैसे करती हो
ईश्वर पर विश्वास .... ?

(तीन)

वे दबे-पाँव
आते हैं तुम्हारी संस्कृति में
वे तुम्हारे नृत्य की बड़ाई करते हैं
वे तुम्हारी आँखों की प्रशंसा में कसीदे पढ़ते हैं
वे कौन हैं ... ?

सौदागर हैं वे ... समझो ...
पहचानो उन्हें बिटिया मुर्मू ... पहचानो !
पहाड़ों पर आग वे ही लगाते हैं
उन्हीं की दुकानों पर तुम्हारे बच्चों का
बचपन चीत्कारता है
उन्हीं की गाड़ियों पर
तुम्हारी लड़कियाँ सब्जबाग़ देखने
कलकत्ता और नेपाल के बाज़ारों में उतरती हैं

नगाड़े की आवाज़ें
कितनी असमर्थ बना दी गई हैं
जानो उन्हें ... !

* * *

(3)

उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!

बाबा !
मुझे उतनी दूर मत ब्याहना
जहाँ मुझसे मिलने जाने की ख़ातिर
घर की बकरियाँ बेचनी पड़ें तुम्हें

मत ब्याहना उस देश में
जहाँ आदमी से ज़्यादा ईश्वर बसते हों

जंगल, नदी, पहाड़ नहीं हों जहाँ
वहाँ मत कर आना मेरा लगन

वहाँ तो कतई नहीं
जहाँ की सड़कों पर
मन से भी ज़्यादा तेज़ दौड़ती हों मोटर-गाड़ियाँ
ऊँचे-ऊँचे मकान
और दुकानें हों बड़ी-बड़ी

उस घर से मत जोड़ना मेरा रिश्ता
जिस घर में बड़ा-सा खुला आँगन न हो
मुर्गे की बाँग पर होती नहीं हो जहाँ सुबह
और शाम पिछवाड़े से जहाँ
पहाड़ी पर डूबता सूरज ना दिखे

मत चुनना ऐसा वर
जो पोचाई और हड़िया में डूबा रहता हो अक्सर
काहिल-निकम्मा हो
माहिर हो मेले से लड़कियाँ उड़ा ले जाने में
ऐसा वर मत चुनना
मेरी ख़ातिर

कोई थाली-लोटा तो नहीं
कि बाद में जब चाहूँगी बदल लूँगी
अच्छा-ख़राब होने पर

जो बात-बात में
बात करे लाठी-डंडे की
निकाले तीर-धनुष, कुल्हाड़ी
जब चाहे चला जाए बंगाल, आसाम या कश्मीर
ऐसा वर नहीं चाहिए मुझे

और उसके हाथ में मत देना मेरा हाथ
जिसके हाथों ने कभी कोई पेड़ नहीं लगाया
फसलें नहीं उगायी जिन हाथों ने
जिन हाथों ने दिया नहीं
कभी किसी का साथ
किसी का बोझ नहीं उठाया
और तो और !
जो हाथ लिखना नहीं जानता हो 'ह' से हाथ

उसके हाथ, मत देना कभी मेरा हाथ !
ब्याहना तो वहाँ ब्याहना
जहाँ सुबह जाकर
शाम को लौट सको पैदल
मैं जो कभी दु:ख में रोऊँ इस घाट
तो उस घाट नदी में स्नान करते तुम
सुनकर आ सको मेरा करुण विलाप ...

महुआ का लट और
खजूर का गुड़ बनाकर भेज सकूँ सन्देश
तुम्हारी ख़ातिर
उधर से आते-जाते किसी के हाथ
भेज सकूँ कद्दू-कोहड़ा, खेखसा, बरबट्टी
समय-समय पर गोगो के लिए भी

मेला हाट-बाज़ार आते-जाते
मिल सके कोई अपना जो
बता सके घर-गाँव का हाल-चाल
चितकबरी गैया के ब्याने की ख़बर
दे सके जो कोई उधर से गुजरते
ऐसी जगह मुझे ब्याहना !

उस देश ब्याहना
जहाँ ईश्वर कम आदमी ज़्यादा रहते हों
बकरी और शेर
एक घाट पर पानी पीते हों जहाँ
वहीं ब्याहना मुझे !

उसी के संग ब्याहना जो
कबूतर के जोड़े और पंडुक पक्षी की तरह
रहे हरदम साथ
घर-बाहर खेतों में काम करने से लेकर
रात सुख-दुःख बाँटने तक

चुनना वर ऐसा
जो बजाता हो बाँसुरी सुरीली
और ढोल-मांदर बजाने में हो पारंगत

बसंत के दिनों में ला सके जो रोज़
मेरे जूड़े की ख़ातिर पलाश के फूल

जिससे खाया नहीं जाये
मेरे भूखे रहने पर
उसी से ब्याहना मुझे !

❖❖❖

महामोह

– प्रतिभा राय

अहल्या एक पात्र नहीं, एक प्रतीक है। जब प्रतीक व्याख्यायित होता है, तब एक पात्र बन जाता है। जब पात्र विमोचित होता है, तब दिखने लगता है प्रतीक में छिपा अन्तर्निहित तत्त्व।

अहल्या 'सौन्दर्य' का प्रतीक है, इन्द्र 'भोग' का, गौतम 'अहं' का प्रतीक है तो राम 'त्याग' एवं 'भाव' का प्रतीक। सौन्दर्य का केवल स्थूल रूप ही नहीं होता – सूक्ष्म तत्त्व भी होता है। सौन्दर्य का तत्त्व न समझ पाने पर सौन्दर्य और सौन्दर्यग्राही दोनों ही सौन्दर्य का खण्डित रूप ही देख पाते हैं। सौन्दर्य मोह पैदा करता है, और मोहभंग भी करता है। इन्द्र का रूप मोह उत्पन्न करता है, जबकि राम के रूप ने अहल्या का मोहभंग किया है। मोह और मोहभंग के उतार-चढ़ाव के बीच आत्ममुग्धा अहल्या स्वयं ही बन गईंमोह का कारण और स्वयं ही मोह का लक्ष्य। इन्द्र-मोह ने अहल्या को पाप की ओर प्रेरित किया था, जबकि राम-भाव ने प्रेरित किया था – मोक्ष की ओर। पाप से मोक्ष तक के उत्तरण पथ पर गौतम थे एक दण्डाधिकारी प्रशासक मात्र। अहल्या की प्रेमाकांक्षा का रामाकांक्षा में बदल जाना ही अहल्या की तपस्या और मोक्ष है। अहल्या के तपस्या-पथ पर राम 'सिद्धि' होने पर भी इन्द्र और गौतम कोई गौण नहीं हैं। गौतम की स्थूल दृष्टि में अहल्या स्खलिता है – राम की दिव्यदृष्टि में अहल्या पावनी है। पाप और पुण्य के बीच समाज द्वारा बनाया गया अभेद्य दुर्ग राम के विचार-बाण से ध्वस्त हो गया – "पाप से मोक्ष की ओर जाने का मार्ग दुर्गम हो सकता है, अवरुद्ध नहीं। भोगवाद पतन है और अध्यात्मवाद उत्थान।" यही है अहल्या उपाख्यान का निष्कर्ष। हर युग में, हर जगह मनुष्य के अन्दर अहल्या होती है, होते हैं इन्द्र और गौतम, परन्तु करोड़ों में एक राम होते हैं। राम साधारण न होने के कारण ऐश्वरीय हैं। समाज की स्थूल दृष्टि में अहल्या 'असती' है, परन्तु राम की सूक्ष्मदृष्टि में अहल्या 'सती' है। इसलिए पुराण की प्रातःस्मरणीय पंच नारियों – अहल्या, द्रौपदी, तारा, कुन्ती, मन्दोदरी में अहल्या अग्रगण्या हैं।

"अहल्या द्रौपदी तारा कुन्ती मन्दोदरी तथा पञ्चकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशकम्"

किन्तु मन में बार-बार यह प्रश्न उठता है – राम के स्पर्शमात्र से अहल्या का शाप तो दूर हो गया, पर कलंक तो नहीं मिटा? इन्द्र के स्पर्शमात्र से अहल्या का स्खलन हुआ – राम के स्पर्श से अहल्या को मुक्ति मिल जाने की बात क्या इतनी सरल और सहज है?

वेद की ओंकार ध्वनि से पली-बढ़ी ब्रह्मापुत्री अहल्या कोई सामान्य नारी नहीं – पिता के प्रभाव से वह वेदमती हैं। गौतम की पत्नी अहल्या पति की पद-मर्यादा के स्वाभिमान से एक मर्यादासम्पन्न वैदिक नारी हैं। फिर भी देहवादी इन्द्र के स्पर्शमात्र से पिघलकर बह गई पाप के पथ पर। अहल्या जैसी नारी के लिए पाप करना भी उतना आसान नहीं है। अतः मनस्तात्त्विक, सामाजिक, दृष्टिकोण से अहल्या के पतन और उत्थान का विश्लेषण करना विधेय है। अनेक जटिल मनस्तात्त्विक, सामाजिक, अर्थनैतिक कारणों से नारी हो या पुरुष, पाप करते हैं। इसलिए अहल्या के स्खलन का कारण सिर्फ़ देहभोग है, यह नहीं कहा जा सकता। जिस तरह मोक्ष प्राप्त करने के

लिए अनेक वर्षों की साधना चाहिए, उसी तरह पाप करने के लिए वर्ष-प्रतिवर्ष का अभावबोध, यंत्रणा, मानसिक आघात, विरोध और उनसे उपजे विषाद और द्वन्द्व ज़िम्मेदार हैं। मोक्ष की तरह पाप करने के लिए भी कम साधना नहीं करनी पड़ती।

तो फिर पाप की उपेक्षा क्यों ?

अनेक वेदज्ञ मनीषियों ने अहल्या, इन्द्र और गौतम का प्रतीकात्मक अर्थ लिया है। कभी अहल्या उषा होती हैं तो इन्द्रदेव होते हैं मेघ। उषा के ललाट पर मेघ की कालिख पोतकर इन्द्र बन गए 'अहल्याजार'। अनेक विद्वानों ने अहल्या को हल्य न हुई 'अ-कर्षित भूमि' के रूप में माना है। इन्द्रदेव ने वर्षादान करके अहल्या को फलदायिनी, उर्वरा और पूर्णगर्भा बनाया। यहाँ गौतम इन्द्रकृपा पर निर्भर एक कृषिजीवी आर्य हैं। स्वामी दयानन्द ने अहल्या को रात्रि, इन्द्र को सूर्य और गौतम को चन्द्रमा का रूप माना है। यहाँ रात्रि और चन्द्रमा में पति-पत्नी का सम्बन्ध है, जबकि सूर्य हैं रात्रि और चन्द्रमा के विच्छेदकर्त्ता।

पृथ्वी के प्रथम महाकाव्य वाल्मीकिकृत 'रामायण' में पृथ्वी के अनन्य पुत्र मर्यादापुरुष राम का आविर्भाव होता है। राम के चरित्र का मानव से ऐश्वरीय उत्थान के लिए रामायण में राम के यश, कीर्ति, वीरता, दया, क्षमा, त्याग, प्रेम, संयम, चरित्रवत्ता, न्याय, धर्म, उच्च विचार और विवेक की गाथा वर्णित है। राम के उत्थान-पथ पर अहल्या-उद्धार की आख्यायिका राम के अलौकिक विचारों और क्षमाशीलता को प्रकट करती है। सम्भव है, वेद में इन्द्र के लिए 'अहल्याजार' शब्द को आधार बनाकर रामायण में अहल्या, इन्द्र, गौतम की आख्यायिका का जन्म हुआ हो। 'महाभारत' में भी अहल्या और इन्द्र के उपाख्यान की सूचना मिलती है। वेद के दुर्बोध्य तत्त्व को सार्वजनिक करने के लिए पुराण की सृष्टि हुई है। उस सूत्र से वेद की प्रतीकात्मक 'अहल्या' रामायण, महाभारत, स्कन्धपुराण, ब्रह्माण्डपुराण इत्यादि में एक पात्र बन गई हैं। एक कलंकित आख्यान की नायिका बन गई हैं ब्रह्मापुत्री अलौकिक सौन्दर्यमयी अहल्या।

'वाल्मीकिरामायण' में राम ईश्वर नहीं, मानव हैं। मुनि के अभिशाप से अहल्या इसमें शिला नहीं बनीं अथवा राम के चरण-स्पर्श से शिला से उन्हें नया जन्म नहीं मिला। इसमें गौतम ने इन्द्र को सहस्रयोनि होने का अभिशाप भी नहीं दिया। वाल्मीकिरामायण में अहल्या का शाप इस तरह है – "केवल वायु भक्षण करके, निराहार रहकर, लोगों की दृष्टि से परे, भस्मशायिनी बनकर वर्षों तपस्या करके आत्मकृत पाप का प्रायश्चित्त करोगी। तब जाकर राम का आगमन होगा और शापमोचन होगा।" अतः प्रायश्चित्त के बल पर, आत्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही इसमें अहल्या की मुक्ति का कारण है। राम रमणीयभाव के मूर्त्तरूप होने के कारण अहल्या की शाप-मुक्ति के निमित्तमात्र हैं। इसमें राम अहल्या के बाहर नहीं हैं, तत्त्वज्ञान के रूप में अन्तर में ही विराजमान् हैं। राम अहल्या की आत्मा के आविष्कार हैं। वाल्मीकि का यह वर्णन अत्यन्त यथार्थवादी और मानवीय है। इसमें अलौकिकता या भाक्तिक मिथ्या नहीं है। 'रामायण' के 'बालकाण्ड' में अहल्या के प्रसंग में वाल्मीकि ने कहा है – "अहल्या कामभाव के वशीभूत हो संज्ञान में रहकर इन्द्र को समर्पित हुई थीं।" यह अत्यन्त वास्तविक है किन्तु 'उत्तरकाण्ड' में एवं कई अन्य भाषाओं के रामायण में अहल्या के प्रसंग में यह कहा गया है कि इन्द्र ने गौतम के छद्म रूप में नदी

के घाट से लौटकर असमय में, ब्राह्ममुहूर्त्त में अहल्या के साथ सम्भोग किया। अतः अहल्या संज्ञान में रहकर इन्द्र को समर्पित नहीं हुई थीं। यह मनस्तात्त्विक दृष्टि से विश्वसनीय नहीं है। पति और जारपुरुष को छद्मवेश में पहचानने की शक्ति एक मूढ़ नारी में भी होती है। अहल्या तो वैसे भी वेदमती, बुद्धिमती नारी हैं। वाल्मीकि जैसे विद्वान् पण्डित का एक ही आख्यान को दो स्थलों पर दो तरह से वर्णन करने की विभ्रान्ति कतई स्वीकार्य नहीं है। भारतीय संस्कृति के आदर्शवादी पुरोधाओं द्वारा 'उत्तरकाण्ड' में अहल्या प्रसंग रखना सम्भवतः विक्षेप है।

वाल्मीकि के बाद अनेक संस्कृत रामायण, तमिल के 'कम्बरामायण', बांग्ला के 'कृतिवासरामायण', हिन्दी के 'अध्यात्मरामायण', तुलसीकृत 'रामचरितमानस' एवं नेपाली के 'भानुदेवरामायण' इत्यादि में अहल्या उद्धार के आख्यान ने भिन्न-भिन्न रूप लिया है किन्तु इन सबमें अहल्या का आख्यान अति संक्षिप्त है, भ्रान्तिपूर्ण है और यथार्थधर्मी नहीं है। अहल्या का प्रायश्चित्त और उनकी सिद्धि गौण है, राम की महानता ही मुख्य है। युग-युग से नारी का पापकर्त्ता, शापकर्त्ता और मोक्षकर्त्ता कोइ-न-कोई इन्द्र, गौतम या राम अर्थात् पुरुष ही है। मानो नारी एक अन्नमय पिण्डमात्र है। पुरुष के स्पर्शमात्र से वह पिण्ड पंकिल हो जाता है, पाषाण से नवयौवन प्राप्त करता है। नारी का उत्थान नारी स्वयं नहीं मानो कि पुरुष हो। ऐसे अनेक प्रश्न उठते हैं मन में अहल्या के स्मरण से। वाल्मीकि के अहल्या उपाख्यान में शब्द संकोचन ने युग-युग से अहल्या को एक देहलुब्धा नारी बना रखा है, जो राम के पावन स्पर्श से प्रातःस्मरणीया बन गई हैं। अहल्या के लिए अधिक व्याख्या करने का अवकाश किसे है? यह 'महामोह' उपन्यास इन समस्त प्रश्नों का 'उत्तर' नहीं है, एक प्रतिक्रियामात्र है। उपन्यास रचने के बाद भी अहल्या अधिकतर अकथित रह गई हैं। यही लेखक की अपूर्णता है। यदि अहल्या को अपनी बात सुनाने का अवसर मिला होता तो वे किस बारे में कहतीं? दुःख या सुख, पाप या पुण्य, नरक या मोक्ष? जीवन केवल पाप नहीं, न ही केवल तप है। मोक्ष का अर्थ मनुष्य से देवता बनना नहीं, न ही मर्त्यलोक से स्वर्गलोक की यात्रा है। ऐसा मोक्ष स्वार्थपूर्ण होता है। पाप, ताप, तप और मोक्ष ही है जीवन – एवं मर्त्यभूमि है इन सबकी साधनाभूमि। अतः अहल्या ने स्वर्गारोहण नहीं किया। वे मर्त्यलोक की नारी हैं, मर्त्यलोक ही है उनकी साधना और सिद्धि की भूमि।

'महामोह' की अहल्या वैदिक नहीं हैं, पौराणिक नहीं हैं, ब्रह्मा की मानसपुत्री नहीं है – वह ईश्वर की कलाकृति हैं – चिरन्तन मानवी हैं। वैदिक से लेकर अनन्तकाल तक है उनकी यात्रा। वे अतीत में थीं – वर्तमान में हैं – भविष्य में रहेंगी। मोक्ष अहल्या की नियति नहीं, संघर्ष ही है उनकी नियति। अहल्या के माथे से कलंक का टीका नहीं मिटता। अतः अहल्या देवी नहीं हैं, अहल्या हैं मानवीय क्रान्ति। क्रान्तिपथ पर विश्रान्ति कहाँ? अहल्या का संघर्ष केवल नारी का संघर्ष नहीं है– न्याय के अधिकार के लिए मनुष्य का संघर्ष है। वेद, पुराण इस संघर्ष-पथ पर एकाकार हैं। कभी दासीपुत्र सत्यकाम के मानवीय अधिकार के लिए संघर्ष तो कभी साध्वी अपाला का समाज की संकीर्ण विचारधारा के विरुद्ध संघर्ष है। अतः काल यहाँ कालातीत है। क्रान्ति ही यहाँ उत्थान है। नारद किस युग के हैं? वेद के युग के या पुराण के युग के? इसलिए प्रतीकात्मक पात्रों ने इसमें कालक्रम का अनुसरण नहीं किया, मूल्यबोध और तत्त्व का अनुसरण किया है। इसमें पात्र वेद और पुराण के पन्नों से उतर आए हैं साम्प्रतिक जीवनभूमि पर।

अब भी जातिगत, वर्णगत, लिंगगत विद्वेष और उनसे उपजे उत्पीड़न, रक्तपात और संघर्ष हो रहे हैं। अब भी अहल्याएँ बलि चढ़ रही हैं पुरुष के अहं एवं अभीष्ट यज्ञ में। अब भी इन्द्रगण अहल्या के बदले अपना अभीष्ट सिद्ध करते हैं। तो फिर अहल्या किस युग की है – वैदिक, पौराणिक या वर्तमान ?

युगों से परे 'महामोह' है इन्द्र, गौतम और अहल्या के मोह एवं मोहभंग का आख्यान – भ्रान्ति और उत्थान की आख्यायिका।

•••

पाप

ऐ मेरे अन्तरंग पाप ! मैं तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ कि तुम कभी किसी के प्रति अविश्वासी नहीं रहे। विपदा और प्रलय की घड़ी में सभी मुझे त्यागकर चले गए। मेरा पुण्य, मेरा यश, मेरा सौन्दर्य, मेरा संगीत, मेरी तपस्या, मेरे मित्र-परिजन, सखी-सहचरी, मेरे पति भी मुझे त्यागकर चले गए। अन्त में मेरी धमनियों का रक्त, मांस, हृदय और मेरी आत्मा का कोमलतम, पवित्रतम, निःस्वार्थ स्पन्दन और मेरे गर्भ से उत्पन्न मेरी सन्तानें भी मेरी गोद सूनी करके मुझसे दूर चली गईं। मृत्यु के समय जीव से जीवन अलग हो जाने की तरह मेरे प्रिय लोगों ने भी मुझसे मुँह मोड़ लिए। भूः भुवः स्वः – इस त्रिलोक प्रलयकाल में संकर्षण के मुख से निकली क्रोधाग्नि से हहाकर जल जाने की तरह महर्षि के मुख से निकली क्रोधाग्नि से मेरा त्रिकाल, मेरा त्रिलोक, मेरी त्रिसत्ता – देह, मन, आत्मा – हहाकर जल उठीं। प्रलयकालीन अग्नितापसे विचलित हो मुनीश्वरगण महर्लोक से जनलोक में चले जाने की तरह मेरे पाप के ताप से क्रोधित हो आश्रम त्यागकर हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों की ओट में चले गए और मेरे मुख-दर्शन के पाप से बचकर तपस्या करने लगे। मेरी चेतना भी मुझसे दूर चले जाने-सी लगी। किन्तु ऐ मेरे चिर विश्वासी विदग्ध पाप ! तुम दग्ध शरीर के अमिट दाग की तरह मेरी समग्र सत्ता से अविच्छिन्न रहे। प्रलयकालीन प्रचण्ड पवन से पछाड़ें खाकर सप्तसिन्धु ने मेरे चैतन्य को डुबो दिया। उन अस्थिर चित्त तरंगों में मेरी विवेक-बुद्धि समा गई, लेकिन मेरी अवचेतन की वासना मेरे पाप का स्तुतिगान करने से पीछे नहीं हटी।

कालक्रमानुसार वेदगर्भ ब्रह्मा की आयु भी समाप्त हो जाती है और उसी नियम से पुण्य की आयु भी चुक जाती है। लेकिन पाप की आयु कभी नहीं चुकती। पुण्य करने के लिए अनेक संकल्प करने होते हैं पर पाप और दुःख तो अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।

प्रत्येक मन्वन्तर में अलग-अलग मनुवंशी राजा, सप्तर्षि, देवता, इन्द्र और गन्धर्व अपने-अपने अधिकारों को भोगते हैं। किन्तु मनुष्य अपना पाप जन्म-जन्मान्तर भोगता है। इसलिए मेरे पाप को मेरे अलावा किसी और ने नहीं भोगा। पुण्य और यश में भागीदार बनने सभी आगे आ जाते हैं, किन्तु पाप और कलंक में कोई भागीदार नहीं बनता। यहाँ तक कि पापी भी अपने पाप का फल भोगना नहीं चाहता। इसलिए ऐ मेरे निष्कपट पाप ! सिर्फ़ तुम ही मेरे अपने बने रहे। आज इस परित्यक्त वन में आमने-सामने हैं – तुम और मैं। सच कहती हूँ, तुम मुझे पाप की तरह कदाकार नहीं लगते – अन्तरात्मा की तरह अन्तरंग लगते हो। इसलिए वास्तव में देखा जाए तो इस निर्जन

भूमि पर हम दोनों कितने निकट आ गए हैं ! मेरा पाप और मेरी अन्तरात्मा, दोनों एक-दूसरे के सम्मुख कितने निस्संकोच निष्कपट रूप से बोल-बतिया रहे हैं !

सुना है, बता देने से पाप का क्षय हो जाता है । क्या पाप का सचमुच क्षय हो जाता है ? पाप तो अपनी जगह अटल रहता है । सम्भव है, पाप पर पुण्य की कूची घूम आने से पुण्य के रंग में वह कुछ समय तक छुप जाता हो । जीवन में सिर्फ़ एक पाप सहस्र पुण्यों को पैरों तले रौंदकर बेझिझक ख़ुद को प्रकट करता चलता है । शायद पापी दुबारा पाप नहीं करता; किन्तु पूर्व पाप के कलंक से उसकी मुक्ति कहाँ! जो कल सब कुछ मिटाने में समर्थ है, वह पाप और कलंक की कालान्तर स्मृतियों को कैसे नहीं मिटा पाता, मुझे यही हतप्रभ करता है ।

दुनिया के सारे पाप व्यक्तिगत होते हैं । मनुष्य किसी ख़ास परिस्थिति में पड़कर निर्दिष्ट, निर्धारित पाप करता है किन्तु उसका दण्डविधान आम फैसले से होता है । मेरा पाप बिलकुल व्यक्तिगत है । मेरी परिस्थितियाँ भी निजी और विशेष हैं । क्यों किया मैंने यह पाप ? किसने दी इस पाप की प्रेरणा ? क्या सचमुच मेरा पाप आकस्मिक था ? दुनिया की कोई घटना अचानक नहीं घटती । इसलिए मेरा यह पाप भी आकस्मिक नहीं था । इस पाप का पूर्वापर सम्बन्ध कहने बैठ जाऊँ तो छठा वेद लिख जाएगा । परन्तु वह छठे वेद की मर्यादा नहीं पा सकेगा, क्योंकि मैं परमपिता ब्रह्मा नहीं । किन्तु मुझसे उस बारे में भला पूछा ही किसने? क्या किसी ने मुझे पीड़ा भरे हृदय से कहा, 'तेरा पाप इतना विशाल है कि उसमें चौदह कोटि भुवन और उससे कहीं अधिक लोकों के पुण्य समा जाएँगे, पर अपने पाप को भूः भुवः स्वः – इन तीन भागों में बाँटकर हमें दे दे, क्योंकि ये तीन लोक ही जीवों का भोग-स्थान हैं ... हम सब इन भोग-स्थानों के वासी होने के नाते तेरे पाप के भागीदार हैं ... तेरा यह पाप आकस्मिक नहीं ... इस पाप का कार्य, कारण तू अकेली नहीं, हम सभी हैं, अर्थात् यह सारा समाज है ... यह समाज-व्यवस्था ही तेरे पाप की प्रेरक है । इसलिए यह समाज भी तेरे पाप का भागीदार है ?'

कहाँ, किसी ने तो नहीं दिया ऐसा आश्वासन ! मेरे आकाशव्यापी पाप को देखकर पुण्य भी स्तब्ध रह गया । मुझे लगा, पृथ्वी का और कोई भी पुण्य इस पाप के पदचिह्न को मेरे यात्रा-पथ से नहीं मिटा सकेगा । विषयी गुणों का रूपान्तर ही काल का आकार है किन्तु काल स्वतः शेष नहीं होता । वह अनादि और अनन्त है । भले ही मेरी शापमुक्ति हो जाए, पर क्या इस अनन्त पाप से मुक्ति मिलेगी मुझे? शाप का काल निश्चित होता है, पर पाप का काल तो अनन्त है । मानो मेरा पाप स्वयं ही महाकाल है । काल को निमित्त बनाकर सृष्टिकर्त्ता के लीला के छल से स्वयं ही स्वयं को सृष्टि के रूपमें प्रकट करने की तरह इन्द्रियवासना और कामना को निमित्त बनाकर मनुष्य पाप ही प्रकट करता चलता है । मन कमजोर पड़ जाने पर वासना हावी होने को बाध्य है । सुना है, ब्रह्मा के दाहिने हाथ से धर्म, पीठ से अधर्म, हृदय से काम, भौंहों से क्रोध, निचले होंठ से लोभ, मुख से वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और पाँव से पाप का आश्रय असत्य उत्पन्न हुए हैं । यह भी सुना है कि ब्रह्मा की देह और मन से पूरे जगत् की सृष्टि हुई है । फिर अज्ञानता की पाँच वृत्तियाँ रची ब्रह्मा ने । तम, मोह, महामोह, तमिस्र और अन्ध तमिस्र ब्रह्मा ने ही रचे हैं । तो फिर सृष्टिकर्त्ता ने तमाम पापों और पापमय पृथ्वी की रचना ही क्यों की ? जो पापमयी पृथ्वी का सृजन करता है, उसे पाप नहीं लगता – जिसने इस पापमयी पृथ्वी की विवशता भोगी, उसे पाप लगेगा !

हर मनुष्य अपने भीतर बहुवचन होता है। कभी साधु तो कभी असाधु। जब वह साधु होता है, वह सोचता है – उसकी जैसी साधुता का उदाहरण कहीं और नहीं मिलेगा – वह है श्रेष्ठ साधु। और जब वह असाधु होता है, तब वह सोचता है – ऐसे असाधु, ऐसे पापी इस दुनिया में बहुत हैं – शायद सभी कमोबेश असाधु और पापी हैं। उससे भी बड़े-बड़े पापी हैं। वह तो तुच्छ पापी है। कहा जाए तो साधुता के अति निकट है वह – पुण्य के आस-पास। मैं भी यही सोचती थी। सोचती थी, मेरा पाप दुनिया में अजूबा नहीं है। यह तो एक स्वाभाविक पाप है। सम्भवतः एक छोटा-सा पाप, जिससे विश्वस्रष्टा की सृष्टि धूल-धूसरित नहीं हुई। इस पाप से मेरे अलावा एक नन्हा-सा जीव तक प्रभावित नहीं हुआ। इस पाप के पीछे जो प्रेरणा, उद्दीपन और उद्देश्य छुपा था, उन पर विचार किया गया होता तो मुझे यह दण्ड न मिलता। किन्तु पाप के अन्तराल में जलती पुण्य की दीपशिखा पाप की परछाईं में किसी को नहीं दिखती। इसलिए पाप सर्वदा दण्डनीय है। यदि पाप की परछाईं इतनी घनी है – इतनी भयावह है, तो पाप की विकरालता की कल्पना नहीं की जा सकती।

जिस तरह मृत्युहीन जीवन असम्भव है, सम्भवतः उसी तरह पापहीन जीवन भी असम्भव है। दीये की बाती जलने पर ही अपनी आयु के समय का उपभोग करती है और उसके जीवन का उद्देश्य सफल होता है। यदि मैं जीना चाहती हूँ तो हर क्षण किसी-न-किसी बहाने मुझे मरना होगा – प्रकाश के जन्म के लिए अन्तरिक्ष का वक्ष चीरना ही होगा। इसलिए पुण्य की महिमा से दीक्षित होने के लिए सम्भवतः हर क्षण पाप की ज्वाला से पिघलने की आवश्यकता पड़ती है – जीवन पुण्य के बिना सम्भव है, किन्तु पाप के बिना जीवन कहाँ ? यदि चाहें तो सभी पुण्य कर सकते हैं किन्तु सभी पाप करना चाहें तो भी नहीं कर सकते। पाप करने के लिए मन में जो दृढ़ता और दुस्साहस होना चाहिए, वह सबमें नहीं होता। मनुष्य सुख पाने की आशा में पाप करता है, पर भोगता दुःख ही है। पाप के डैनों पर दुःख और अन्तर्दाह जो बैठे होते हैं, यह बात पाप करने से पहले भला किसे मालूम होती है।

यश और अपयश में यश की ही कामना की जाती है, किन्तु सत्कार्य करने पर यदि अपयश मिले तो अपयश की ही कामना सही है। किन्तु मैंने जो कार्य किया है, भला उसे सत्कार्य कौन कहेगा ? पाप का उद्देश्य कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, पाप तो पाप है। जो मेरे लिए सत् है, वह जगत् के लिए असत् है – अतः मैंने महापाप किया है। मन में प्रश्न उठें तो समझ लेना चाहिए कि प्राणशक्ति सही मार्ग पर चल रही है। आज मेरे मन में अनेक प्रश्न उठ रहे हैं। क्या प्रेम असत् है ? क्या करुणा कलंक है ? क्या परोपकार घृणित है ? क्या वात्सल्य दुर्बलता है ? परन्तु मेरे इन प्रश्नों को सुनकर दुनिया हँसेगी। पूछेगी, क्या भोगलिप्सा प्रेम है ? भला भोग में करुणा और परोपकार का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

यदि मैं कहूँ – सिर्फ़ भोग नहीं, मेरे पाप के पीछे थी और भी अधिक जटिल मनःस्थिति, सम्भवतः निःस्वार्थ प्रेम ? अनन्त करुणा से उपजा परोपकार – त्याग, समर्पण, विरोध और प्रतिघात ! हाँ, मैं सुन रही हूँ पूरे जगत् का तिरस्कार ! यहाँ, प्रेम की परिणति निन्दा है, क्योंकि प्रेम यहाँ सम्मानित नहीं। यहाँ प्रेम में डर है, क्योंकि प्रेम में कितनी शक्ति है और प्रेम कितना निर्भर कर देता है, उस बारे में हमने कभी सोचने की कोशिश ही नहीं की। प्रेम यहाँ यंत्रणा है, क्योंकि प्रेम का अर्थ यहाँ कामना है, वासना है। प्रेम में यहाँ अथाह हताशा है क्योंकि हमारे प्रेम में अनन्त प्रत्याशाएँ होती हैं। प्रेम यहाँ घृणित है, क्योंकि प्रेम यहाँ निष्कलंक नहीं। प्रेम यहाँ लाता है व्यर्थता,

क्योंकि उसकी हार-जीत में एक अन्य पक्ष भी होता है; लेकिन मैं पाप का गुणगान करते-करते प्रेम तक क्यों पहुँच गई ? क्या पाप और प्रेम इतने निकट हैं – इतने अन्तरंग – हथेली के दोनों ओर की तरह ?

अपने 'पाप' के बारे में सोचते समय स्वयं को अपने पाप का बहुत-सा हिस्सा दिखाई नहीं देता। आँखों का एक बड़ा दोष यह भी है कि वे अपने ही को देख नहीं पातीं। अपने ही शरीर का काफी हिस्सा सारी उम्र स्वयं से अनदेखा रह जाता है। मनुष्य ने अपने आयु-काल में बिताए काफी समय और क्षणों का सामना नहीं किया, पर वह समय उसके अन्दर से होकर गुज़रा है। वह गुज़रा है उस समय के भीतर आयु के कुछ हिस्से के उस पार तक। जाग्रत् रहने पर भी न जाने कितनी भोरें – माहेन्द्र घड़ियाँ – निशार्ध, देखने से वह वंचित रह जाता है। उसी तरह सचेत रहकर भी न जाने अपने कितने 'पाप' वह देख नहीं पाता। और यदि देख भी लेता है तो उन्हें रोक नहीं पाता। कई छोटे-बड़े पाप हो जाते हैं तमाम विरोधों के बावजूद। ठीक इसी तरह वह विशाल पाप भी घटित हो गया मेरे जीवन में। क्या मैंने सचमुच उस पाप का विरोध नहीं किया था ? विरोध करने के बावजूद क्यों विवश हो गई उस परम प्रतीक्षित प्रियतम पाप के गहरे स्पर्श के लिए ?

पुण्य में द्वन्द्व नहीं होता। इसलिए पुण्य निर्द्वन्द्व रूप से सम्पन्न हो जाता है, किन्तु बिना द्वन्द्व के एक छोटा-सा पाप तक नहीं हो पाता। द्वन्द्व समाप्त होने से पहले ही मेरे पाप ने मुझे अपने वश में कर लिया। द्वन्द्व के समाप्त होने तक की प्रतीक्षा करने का धैर्य भला पाप या पापी के मनोबल में कहाँ होता है ? वेदवाणी का प्रथम स्फुरण, प्रथम शब्द 'अग्नि' की तरह मेरे जीवन के प्रथम पाप ने अग्नि बनकर मेरे जीवन और मृत्यु को भी दग्ध कर दिया। इस समय मैं जीवित हूँ या मृत ?

जीवित होते हुए भी मैं मृत्यु-यंत्रणा से जर्जरित हूँ। मरी-सी पड़ी रहकर जीवन की समस्त ज्वालाओं से मैं दग्धीभूत हूँ। कितना विचित्र है मेरा वर्तमान और प्रारब्ध !

एक ओर यज्ञ और त्याग, दूसरी ओर परिग्रह और लोभ – यही है जीवन। जीवन में इन दोनों के महत्त्व को झुठलाया नहीं जा सकता। पाप रहित जीवन निष्कलंक हो सकता है, पर सम्भवतः परिपूर्ण नहीं। पाप क्षणभर के लिए जीवन का ख़ालीपन दूर कर सकता है, परन्तु क्या जीवन को परिपूर्ण कर सकता है ? क्या किसी का भी जीवन कभी परिपूर्ण होता है ? पर आज इतने वर्षों बाद मैं भला अपने पाप का हिसाब लेकर क्यों बैठ गई ? जब निन्दा, अपयश और कलंक की आँधी से हताश हो छुपकर उसी परित्यक्त अरण्य में जडवत् पड़ी थी, उस समय पाप ही था मेरा एकमात्र विश्वस्त बन्धु। मेरा वह अन्तरंग पाप ही मेरा हाथ पकड़कर मुझे भोग-जीवन से भाव-जीवन की ओर राह दिखाकर ले गया था। मेरे पाप ने ही मेरे अहंकार पर तेज प्रहार करके मुझे सतर्क कर दिया था, 'सौन्दर्य केवल देहगत नहीं होता, सौन्दर्य मनोगत भी होता है – आत्मागत भी होता है। सौन्दर्य पार्थिव नहीं, अपार्थिव है। यदि तू सचमुच सौन्दर्य की सारसत्ता है, तो अपने अन्तर को भी तू सुन्दरतम कर दे– रमणीय बना दे अपनी प्रिय धरती को।'

अन्तरात्मा से अन्तरतम और कौन है इस जगत् में – जिसे तुम अपना सपना, अपना दुःख, पराजय, पाप, अपराध, मान-मनौव्वल और व्यर्थताएँ निःसंकोच बता सको ? यदि ऐसा कोई है, तो वही तुम्हारे बाहर – तुम्हारे भीतर, तुम्हारे अतीत में, भविष्य में, तुम्हारे जीवन और मृत्यु में तुम्हारे साथ है। वह अदृश्य अव्यक्त, अनन्त, अन्तर्यामी है। न जाने कब उस ज्योतिर्मय, चिन्मय, आनन्दमय का आविर्भाव मेरे भीतर होगा – कब उदित होगा वह परमयोग्य महासूर्य – कौन जाने ! आज मैं अपने पाप की सफाई देने के लिए अपने अतीत की व्याख्या नहीं कर रही। इससे मेरे 'पाप' की अवमानना होगी। मैं अपने पाप का अपमान और अवमानना नहीं करना चाहती। अपने पाप की प्रगाढ़ अन्तरंगता को मैं निष्कपट भाव से व्यक्त कर रही हूँ, ताकि यह दुनिया भले ही मुझे गलत समझे, पर मेरे पाप को गलत न समझे।

जन्म से लेकर आज तक मेरे जीवन में कैसी-कैसी विचित्र घटनाएँ घटित हो गई हैं, उन्हें किसी से कहने का अवसर मुझे नहीं मिला। मेरा जन्म, बचपन, शिक्षा, यौवन-प्राप्ति, विवाह, दाम्पत्य एवं अन्त में प्रेम और पाप – सब कुछ था एक-एक व्यतिक्रम। कैसे बीता मेरा एकाकी बचपन, कैशोर्य, दाम्पत्य – फिर वर्ष-प्रतिवर्ष कैसे बिताया समाज द्वारा परित्यक्त एकाकी जीवन – कैसे जीती रही घोर अरण्य में एकाकी, नहीं कहा कभी किसी से। यहाँ तक कि मेरे महर्षि पति ने भी शापमुक्ति के बाद यह तक नहीं पूछा, 'सुकुमारी ! इतना बड़ा दुःख, इतना बड़ा कलंक और प्रकृति की प्रतिकूल परिस्थितियों को सहते हुए कैसे जीवित रहीं तुम इतने दिनों तक? क्या बताओगी अपने एक दिन का अनुभव और आपबीती ... ?'

क्या उन्होंने एक बार भी उस बारे में नहीं सोचा ? मानो मेरे परित्यक्त जीवन से उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं था। मानो पाप वाले दिन वे मेरी आयु के हिस्से ही नहीं थे। वह बात सुनने से ही मानो मेरे तपोनिष्ठ पति को पाप छू जाता। जैसे कि कोई इतनी बड़ी घटना घटी ही न हो। कठोर तपस्या से मेरा शरीर कमजोर लगता है, इसके बावजूद उसका सौन्दर्य अटूट बना हुआ है, मेरा यौवन चिरन्तन लगता है, इसलिए यह मान लेना होगा कि मेरा अन्तर भी उसी तरह अटूट सुकुमार बचा होगा। बाह्य रूप को छोड़कर मानो मेरा कोई अन्तर्मन ही नहीं है। और यदि मेरा कोई अन्तर्मन है, तो उसकी अधीश्वरी मानो मैं नहीं। इसलिए अन्तर्मन की बात कहने का अधिकार भी मानो मेरा नहीं है। क्या किसी ने कभी मेरे अन्तर्मन की सुध ली थी जो आज लेगा ? क्या नारी का भी कोई अन्तर्मन होता है ? यदि होता भी है, उसका अधिकारी तो पुरुष है – उसका पिता, पति या अभिभावक है ! सम्भवतः इसीलिए शाप देते समय पति ने कहा था, 'तू पत्थर-सी जडवत् पड़ी रहेगी, सबकी आँखों से अदृश्य। तू वायुभक्षण कर जीएगी ... !' क्या कोई सन्देह जडवत् रह सकता है ? जीते-जी पत्थर बन सकता है ? क्या कोई वायु भक्षण करके जी सकता है ?

तो फिर ? तो क्या गौतम ने चाहा था कि अहल्या मर जाए ? हाँ, यही सत्य है। सीधे-सीधे हत्या की होती तो नारी हत्या का अपराध लग जाता। नरहत्या पाप है .... कहते हैं – नारी हत्या है महापाप। नारी को त्याग, समर्पण, दया, क्षमा, पुण्य आदि विशेषणों से विभूषित करके देवी के आसन पर बिठाया है इस समाज ने। नारी को अपने ही काम में लगाकर लाभ उठाने की यह एक सुनियोजित व्यवस्था है समाज की। यह समाज कौन है ? निश्चित रूप से गौतम की तरह तर्कसिद्ध दार्शनिक, समाज के ऊँचे आसन पर बैठे पुण्यवन्त शास्त्रविद् पुरुषगण हैं।

नारी की हत्या करना महापाप है – जिलाए रखकर शोषण करना पाप नहीं है – शोषित, लांछित, सतायी हुई नारी की सहनशीलता, विनम्रता से ही उसका बड़प्पन प्रमाणित होता है। इसलिए समाज नारी को यातना देकर मानव से देवी बनाता है। आज अहल्या भी देवी है। यदि गौतम और उनका ऋषि-समाज अहल्या को बाधाओं और मृत्यु का सामना करने के लिए छोड़कर न चले गए होते तो अहल्या की महानता कैसे साबित होती ? ऐ पुण्य के प्रतिनिधिगण ! आपने अहल्या को प्रायश्चित्त करने का अवसर दिया, इसके लिए आपको शत-शत नमन है।

आज मैं अपनी आत्मकथा पण्डित, शास्त्रविद्, विद्वान् व समाज के प्रतिष्ठित प्रतिनिधियों के लिए नहीं लिख रही – भविष्य के नारी-समाज के लिए भी नहीं लिख रही। लिख रही हूँ मेरी ही तरह विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर समाज में परित्यक्त, पापग्रस्त, शोषित, लांछित, अवहेलित लोगों के लिए, जो लोग समाज की सेवा करते हैं, समाज की सारी गन्दगी अपने हाथों से बेझिझक साफ़ करके समाज को निर्मल-परिमल करते हैं, पर उन लोगों को समाज कहता है – शूद्र, और जो लोग अपना जन्मगत अधिकार और अपनी जन्मभूमि दूसरों को भोगने के लिए छोड़कर वन-जंगल, गिरि-कंदराओं में आश्रय लेते हैं, समाज उन्हें कहता है अनार्य – पृथ्वी की वन-सम्पदा, जल-सम्पदा की रक्षा करने की जिसने शपथ ली थी, समाज उसे कहता है – राक्षस।

दुनिया की चरम पीड़ा और यंत्रणा से शरीर के प्रत्येक जीवकोष को विदीर्ण करके, रक्ताक्त करके जो मृत्यु की देहरी पर खड़ी होकर जीवन-उन्मेष करती है – और मानव-जाति को जन्म देती है, समाज उसे कहता है, अबला, कमजोर, नरक का द्वार ! उसके लिए समाज के नीति-नियम अत्यन्त कठोर और अधिकतर अमानवीय होते हैं।

पाप का जन्मदाता परमात्मा नहीं ... मनुष्य-निर्मित यह समाज अर्थात् मनुष्य है। समाज की आवश्यकतानुसार पाप-पुण्य की परिभाषा भी बदल जाती है। सतीत्व की परिभाषा भी बदल जाती है समाज के स्वार्थ-साधन के पथ पर।

मेरा यह आत्मकथन उन लोगों के लिए है जो सिर्फ़ सुनते हैं, देखते हैं, सह जाते हैं, पर उफ़ तक नहीं करते। अपना पक्ष तक नहीं रखते। अन्याय नहीं करते, बल्कि अन्याय और अत्याचार को सिर झुकाकर, चुपचाप सह जाते हैं। अन्याय करना पाप है और अन्याय को मुँह बन्द करके प्रश्रय देना भी पाप है। पाप की विचित्र रूपरेखा तैयार करना मेरे आत्मकथन का अन्तःस्वर है। कौन है पतित – जो दूसरे को पतन की ओर धकेल देता है या जो असहाय-सा दूसरों के द्वारा पतित होकर पतन के गर्त में गिर पड़ता है ? इस पृथ्वी के असहाय, पतित और पापियों को अपने पाप और लाचारी से सामना करने के लिए मेरी यह स्वीकारोक्ति है, एक विनम्र आह्वान ...

लेकिन आत्मकथा लिखने का निश्चय करके सम्भवतः मैंने एक अनुचित व्रत ले लिया है। गुणी आत्मकथा लिखकर अपना यश और पुण्य प्रकट नहीं कर पाता, न ही पापी आत्मकथा में सारा पाप प्रकट कर पाता है। अपनी महानता स्वयं प्रकट करना जितना असौजन्य है, अपने पाप को स्वयं प्रकट करना उतना ही अप्रिय। आत्मप्रशंसा और आत्मनिन्दा, दोनों मरणतुल्य हैं। मुझसे पहले कभी किसी के द्वारा अपनी आत्मकथा

लिखकर अपने चरित्र की चर्चा करने की परम्परा नहीं रही। इसलिए मैं एक परम्परा-विरोधी और आत्मविरोधी कार्य करने को बाध्य हूँ। सम्भवतः यह पृथ्वी की प्रथम आत्मलिपि के रूप में जानी जाएगी। आत्मलिपि लिखने को मैं बाध्य न हुई होती यदि आदिश्लोक के रचयिता महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना न की होती। सीता के दो पुत्र – लव-कुश आश्रम-आश्रम घूमकर, 'रामायण' गा-गाकर वाल्मीकि के रामकाव्य को लोकप्रिय बना चुके थे। जब तक यह दुनिया रहेगी, तब तक 'रामायण' की लोकप्रियता रहेगी, ऐसी भविष्यवाणी ऋषि और वेदज्ञ कर चुके हैं। इसलिए मेरी आत्मकथा कौन पढ़ेगा – कौन प्रचार करेगा इसका, और भला सुनेगा भी कौन!

तब भी मैं आत्मकथा लिखने से पीछे नहीं हटूँगी। आदिकवि वाल्मीकि के 'रामायण' काव्य से प्रतियोगिता करके मैं अपना कवित्व प्रदर्शित के लिए आत्मकथा नहीं लिख रही हूँ, न ही सती सीता से ईर्ष्या करके मैं स्वयं को निर्दोष प्रमाणित करने के लिए अपना चरित्र चित्रण कर रही हूँ। वैदिक नारी होकर अपने जीवन की अनकही, अनसुनी, गोपनीय बातों की सविस्तार व्याख्या करने में मुझे कोई संकोच नहीं। क्योंकि यदि मैंने यह बात न बताई तो दुनिया में मेरा पाप हमेशा के लिए अव्यक्त रह जाएगा। 'वाल्मीकिरामायण' से मेरे बारे में जो पता चलता है, उसके द्वन्द्व और संशय के बीच मेरा पाप अत्यन्त घिनौना लगेगा। यही घिनौना पाप भविष्य में मनुष्य को पथभ्रष्ट करने में सहायक हो सकता है। 'मिथ्या' पाप से भी घिनौना है। 'अर्धसत्य' मिथ्या से भी घिनौना। इसलिए सच बताना ही मेरा उद्देश्य है। वाल्मीकि ने मेरा उल्लेख न किया होता तो भी मैं रंचमात्र विरोध न करती। क्या कोई चाहेगा कि उसका कलंक हर काल में लिपिबद्ध रहे? यदि आदिकवि मेरा उल्लेख न करते तो क्या श्रीराम के पावन चरित्र की महानता प्रस्तुत करने में कुछ कमी रह जाती? वह चाहते तो सत्य घटना को निष्कपट रूप से लिख सकते थे, किन्तु मेरे बारे में उन्होंने इतनी संक्षिप्त सूचना दी कि केवल मेरा पाप और मेरी कमजोरी ही प्रकट हो सकी। कौन जाने सत्यद्रष्टा महर्षि ने यह पक्षपात क्यों किया?

सम्भवतः इसलिए कि वाल्मीकि केवल सत्यद्रष्टा नहीं थे, भविष्यद्रष्टा भी थे। वे जानते थे कि सीता के चरित्र की महानता पढ़ने के बाद मेरा चरित्र पाठकों के लिए अत्यन्त घृण्य हो जाएगा। शायद कालजयी रामकाव्य के पावन पृष्ठों को मेरा पाप कलंकित कर देगा। केवल इतना ही नहीं, कहीं भविष्य की नारियाँ सीता का अनुसरण न करके मेरा अनुसरण करने पर लग जाएँ। सम्भवतः इसीलिए स्रष्टा शंकित और सन्दिग्ध हुए होंगे। सामाजिक प्रतिबद्धता को ध्यान में रखकर उन्होंने 'उत्तरकाण्ड' में मेरे चरित्र को निष्कलंकित प्रमाणित करने की चेष्टा की थी और तभी शब्दों के प्रयोग में कंजूसी की होगी। सत्यद्रष्टा कवि सच्चाई जानने की चेष्टा न करके मेरे बारे में संक्षिप्त नीति अपनाने को क्यों बाध्य हुए, उस बारे में मैं भला क्या कह सकती हूँ? मैं उन्हें भी दोष नहीं देती। मैं तो उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में कभी आई ही नहीं। हालाँकि कई बार उनसे मेरी भेंट हुई थी, वह भी यज्ञादि कार्य के अनुष्ठान के समय। मेरे जीवन की वह चर्चित घटना घटित होने के बहुत बाद – मेरे शापमुक्त होने के बाद। इसलिए मेरे पुनर्जन्म के बारे में, उन्होंने लोगों से जो कुछ सुना, वही लिखा। हाँ – मैं सोचती हूँ, वही था मेरा पुनर्जन्म। मनुष्य अपने एक ही आयु-काल में कितनी बार जन्म लेता है, कितनी बार मृत्युवरण करता है – इस बारे में किसी और को अनुभव हो या न हो, मुझे है। महर्षि वाल्मीकि को भी अपने एक ही जीवनकाल में पुनर्जन्म की अनुभूति है। उन्होंने भी महापाप का सामना किया है।

एक बात और, मेरे पति गौतम महर्षि हैं और वाल्मीकि भी महर्षि हैं। इसलिए सच्चाई जानते हुए भी समधर्मा महर्षि वाल्मीकि ने मेरे पति के मान-सम्मान और यश को बनाए रखने के लिए 'उत्तरकाण्ड' में शालीनतावश लिखा कि मेरे साथ छल हुआ था। अपनी इच्छा से मैंने देहदान नहीं किया। भ्रम में पड़कर पर-पुरुष को पति समझकर ऐसा किया था। यह सत्य का विचलन हो सकता है, परन्तु यह वाल्मीकि की उदारता का उदाहरण है। मेरे महर्षि-पति के लिए यह सन्तोषप्रद हो सकता है, पर मेरे लिए नहीं, क्योंकि सच स्वीकार करने का जन्मजात गुण मैंने अपने पिता से पाया था।

मेरा चरित्र-चित्रण करते समय सच को छोड़कर कल्पना का सहारा लेने के पीछे वाल्मीकि का एक और भी कारण हो सकता है।

दशरथपुत्र रघुकुलतिलक राम का अयन या अभियान अथवा जनकनन्दिनी सीता का अयन या अभियान लिखने के लिए ब्रह्मा से निर्देश पाकर वाल्मीकि ने रामकाव्य 'रामायण' की रचना की थी, अर्थात् राम और सीता के चरित्र का विस्तृत चित्रण और महिमागान करना ही वाल्मीकि का उद्देश्य था। नहीं तो चरित्र-चित्रण में सिद्धहस्त वाल्मीकि ने उर्मिला, माण्डवी, शूर्पणखा, सुग्रीव, बाली, कुम्भकर्ण जैसे पात्रों की अवहेलना न की होती। उर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति, स्वयंप्रभा जैसे अन्य अनेक पात्र सीता की तेजस्विता के आगे फीके पड़ गए हैं, परन्तु वे सीता से किसी भी गुण में कम नहीं थीं। वाल्मीकि ने उनके सुख-दुःख का ठेका नहीं लिया था। हालाँकि एक महाकाव्य में सभी पात्रों को उनके पूरे तेज के साथ चित्रित करना सम्भव भी नहीं होता। ऐसा किया गया होता तो 'रामायण' चौबीस हजार श्लोकों के बदले चौबीस करोड़ श्लोकों में बदल गई होती। सिर्फ़ नायक और नायिका का जयगान करना ही महाकाव्य की परम्परा है। एक और कारण है, लेखन की अन्तरंग अनुभूति, निष्कपट करुणा, श्रद्धा और उपलब्धि किसी कृति को स्वरूप प्रदान करता है। जनकनन्दिनी सीता को, अपने को अपने प्राणप्रिय पति, परमप्रेमी, पत्नीभक्त श्रीराम द्वारा निर्वासित किए जाने पर पितृतुल्य महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में शरण मिली थी। मिथिलानरेश महर्षि जनक भी वाल्मीकि के घनिष्ठ मित्र थे। जानकी को वाल्मीकि से पितृस्नेह मिला, अभय मिला, आशीर्वाद पाकर दो पुत्रों की जननी हुई। वाल्मीकि की देख-रेख में पुत्रों को पाला और शिक्षा दिलाई। वर्षों तक जानकी का वाल्मीकि के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क तथा विचारों के आदान-प्रदान ने वाल्मीकि को उनके प्रति स्वाभाविक ही अधिक श्रद्धावान् और संवेदनशील बना दिया होगा। सीता ने भी अपने जीवन की करुणकहानी का सविस्तार वर्णन महर्षि वाल्मीकि के सम्मुख किया होगा। इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं। उस समय वाल्मीकि ही थे सीता के पिता, बन्धु, सखा, सहायक और अभय-दाता। सीता के निर्वासनकाल में ही वाल्मीकि ने रामायण की रचना की थी और बन्धु-पुत्री को पुनः प्रतिष्ठा दिलाने के लिए लव-कुश को रामायण-गायन सिखाकर उसका प्रचार-प्रसार कराया था। उस दृष्टि से रामकाव्य में राम और सीता का जयगान करना अत्यन्त स्वाभाविक है।

भला, मैं वाल्मीकि की क्या लगती हूँ कि वे मेरे प्रति संवेदनशील और श्रद्धालु होकर मेरी अन्तरंग भावनाओं को समझने का प्रयास करते ? मेरे बारे में उनकी अन्तरंग अनुभूति के अभाव ने मेरे चरित्र का मात्र एक रेखाचित्र आँका है।

कोई यह न सोचे कि मैं वाल्मीकि पर आक्षेप लगा रही हूँ। विश्वामित्र, वाल्मीकि, वशिष्ठ, अगस्त्य ... ऋष्यशृंग आदि महर्षियों में से दो के प्रति मुझमें अगाध श्रद्धा और प्रगाढ़ भक्ति बचपन से ही है। वे हैं – महर्षि विश्वामित्र और महर्षि वाल्मीकि। इसका कारण यह है कि ये लोग पाप के घोर अरण्य में नितान्त निस्संग मार्ग पार कर पुण्य और सिद्धि के सुरभित उद्यान में पहुँचे हैं। ये दोनों सिद्ध पुरुष हैं। ये पाप के अत्यन्त अन्तरंग रहे। कौन जाने, पाप के प्रति मुझमें यह अहैतुक आकर्षण क्यों है ? भला मैं यह कैसे कह सकती हूँ कि मैं ही नहीं, बल्कि मनुष्यमात्र ही पतंगे के आग में कूद पड़ने-सा, पाप के प्रति आकर्षण महसूस करता है ?

* * *

सहस्र अनिन्द्य नारियों की सिर से पैर तक जाँच-पड़ताल करके, उनके श्रेष्ठ सौन्दर्य के अंग-अंग, तिल-तिल, रेणु-रेणु, जीवकोष के नक्शे से उठाकर अन्त में जिस ब्रह्माण्ड सुन्दरी नारी की सृष्टि प्रजापिता ब्रह्मा ने की, उसी का नाम रखा अ-हल्या। असौन्दर्य, हल्य, कुरूपता, अशोभा जिस नारी में नहीं है, वही है अ-हल्या, अनिन्द्या-अनन्या ...

सौन्दर्य भयभीत करता है – तटस्थ, निर्वाक्, निस्पन्द कर देता है, साँसें रोक देता है। दृष्टि-शक्ति को निष्प्रभ कर देता है। रक्तप्रवाह को स्थिर कर देता है, चेतन को जड़ कर देता है। मैं ही थी उस तटस्थ कर देने वाले सौन्दर्य की प्रतिमा।

अहल्या अनुपम है – यह बात त्रिलोक में गूँज उठी, त्रिकाल में दुन्दुभित हुई।

शिल्पी जब सृष्टि करता है, वह अपने लिए, अपने आनन्द के लिए, अपनी अन्तरात्मा को प्रकट करने के लिए करता है। सृष्टि-चेतना, सृष्टि-चिन्तन, सृष्टि-वेदना और यंत्रणा स्रष्टा के निजी अनुभव होते हैं किन्तु जब सृष्टि पूर्ण विकसित और साकार हो जाती है, तब वह स्रष्टा की नहीं रह जाती। वह हो जाती है – समाज की, राष्ट्र की, सारी पृथ्वी की। वह सृष्टि जगत् के लिए क्या सन्देश लेकर आएगी, यह कह पाना स्रष्टा के वश में नहीं होता। सृष्टि हमेशा स्रष्टा की भावना के नियन्त्रण में होते हुए भी मुक्ताकाश की पंछी होती है। वह पंछी कौन-सा गीत गाएगा, जगत् को कैसी बातें बताएगा, उसी सोच में कभी-कभी स्रष्टा अपनी सृष्टि की साकारता से चिन्तित हो उठता है, अपनी ही सृष्टि स्रष्टा को विचलित कर देती है।

पिता मेरे सौन्दर्य को लेकर चिन्तित नहीं थे, मेरा सौन्दर्य विश्व को क्या सन्देश देगा, यही था मेरे पिता की चिन्ता का विषय। सुन्दर चीज के लिए सबके मन में आकर्षण होता है। उसे पाने की कामना प्रत्येक चेतनप्राणी की जन्मजात प्रवृत्ति है। इसलिए अति सुन्दर चीज के लिए पागल होने में भला आश्चर्य कैसा ?

प्रजापिता ब्रह्मा ने नारी की सृष्टि की, नर को आकर्षित करके अपनी सृष्टि और सर्जना के प्रति प्रयत्नशील, आग्रही बनाने के लिए। सृष्टि की स्थिति और प्रवाह के लिए यह आवश्यक था, किन्तु 'अहल्या' की सृष्टि किसके लिए की ? नर, किन्नर, यक्ष, राक्षस, देवता – सभी अहल्या को पाने के लिए मन-ही-मन तथा प्रत्यक्ष रूप से

प्रतिज्ञाबद्ध हैं। कहा जाए तो एक तरह से पागल। अहल्या किसकी होगी ? क्यों हो वह किसी की ? क्या अहल्या बाध्य है, किसी की होने के लिए, क्योंकि वह अनिन्द्या है – अनुपमा है !

उस समय भला कितनी रही होगी मेरी उम्र ! शायद आठ या नौ वर्ष। उस नासमझ उम्र से ही मैं काफी कुछ समझने लगी थी। मैं जानती थी कि दुनिया मुझे स्तब्ध हो ताकती रहती है। देवता, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, किन्नर, यहाँ तक कि जंगल के खूँखार जानवर भी मुझे चकित हो अपलक ताकते रहते हैं। ब्रह्मा की सृष्टि में सुन्दर नारियों का अभाव नहीं है – स्वर्गलोक की अप्सराओं का सौन्दर्य अतुलनीय है। पर मुझमें ऐसी क्या विशेषता है कि मैं सबकी नयनाभिराम दृश्य बनकर शोभा पाऊँ ?

प्रतिदिन देवतागण पिताजी के पास आते हैं। वे लोग मुझे देखते ही लाड़ करने लगते हैं – गोद में बिठा लेते हैं – मेरे कोमल गालों को चूमते हैं। सीने से लगाकर ढेरों मीठी-मीठी बातें करते हैं। बहुत-सी दुर्लभ चीजें उपहार में देते हैं। पिताजी विरोध नहीं करते, बल्कि अपनी सृष्टि के उत्कर्ष पर गर्व महसूस करते।

मैं सोचती, मेरे रूप के कारण ही सभी मुझे इतना स्नेह-प्यार करते हैं। यदि मैं अहल्या न होकर हल्या हुई होती तो भी क्या मुझे इतना प्यार और स्नेह मिलता ?

मेरे बचपन की सहेली ऋचा। वह मेरी दृष्टि में सुन्दर है। वह श्यामा है – वह दासकन्या है। कहते हैं, वह मेरे आगे दूध में कोयले जैसी है किन्तु उस जैसी नम्र, मधुर स्वभाव वाली लड़की नहीं है। इसका मतलब रूप ही मुख्य है – स्वभाव और चरित्र गौण ! धीरे-धीरे मेरी उम्र बढ़ने लगी, और उसके साथ-साथ अपने रूप को लेकर मुझमें सचेतनता भी बढ़ी। कई बार अपना रूप देखकर मैं स्वयं ही मुग्ध हो जाया करती।ख़ुद को ख़ुद ही इतना चाहने लगी कि मेरे चारों ओर क्या कुछ हो रहा है, उस ओर ध्यान ही नहीं रहा। मेरे इस स्वभाव से पिताजी चिन्तित हो उठे। इतने चिन्तित कि उन्होंने घर पर एक दर्पण तक नहीं रखा। मुझे पास बिठाकर उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया, "प्राणी का शरीर तुच्छ है – क्षणभंगुर है– रूप मूल्यहीन है। शारीरिक सुख क्षणिक है, अनित्य है। इसलिए शरीर के प्रति ध्यान न देकर अन्तरात्मा के प्रति ध्यान देने से ही प्राणी का जीवन सार्थक होता है। शरीर नाशवान् है – व्यक्तित्व नाशवान् नहीं। व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयत्नशील होने के बारे में वे जितना उपदेश देते, मैं शरीर की देखभाल के प्रति उतना ही प्रयत्नशील हो उठती। पिताजी के उपदेश सुनते-सुनते एक दिन पूछ बैठी, "शरीर, रूप, चेहरा – यदि ये तुच्छ हैं, अनित्य हैं तो फिर स्रष्टा ने सुन्दर रूपों की सृष्टि की ही क्यों ? देवता, राजा, ऋषि सिर्फ़ सुन्दर कन्याओं से ही विवाह क्यों करते हैं ? असुन्दरियों से इनके विवाह करने का उदाहरण क्यों नहीं है ? मुझमें और ऋचा में ऋचा अधिक सहनशील, नम्र, कमनीय, कोमल होने पर भी आपके पास प्रतिदिन आनेवाले देवता और मुनिगण मुझे ही अधिक प्यार क्यों करते हैं ? क्या, यह मेरे सुन्दर रूप के कारण नहीं है ?"

मेरे प्रश्न सुनकर पिताजी क्षणभर निर्वाक् हो गए। कोई उत्तर नहीं दिया। काफी देर की चुप्पी के बाद मृदु स्वर में कहा, "पुत्री अह्या, तूने जो कुछ कहा, वह सत्य है। किन्तु वह 'मोह' है। 'मोह' का चिरन्तन मूल्य नहीं होता। एक न एक दिन प्राणी के मन से रूप का मोह दूर हो जाता है। उस वक़्त प्राणी का व्यक्तित्व ही रूप पर

विजय प्राप्त करता है ... ।" इतना गहरा दर्शन उस उम्र में मेरे दिमाग़ में नहीं घुस सकता था । मैंने केवल इतना समझा कि मेरे पिता मेरे मन को रूप केन्द्रित करना नहीं चाहते । किन्तु मैं रूप केन्द्रिकता से किस तरह मुक्त हो जाऊँ ? सबकी आँखों में, भाषा में, स्पर्श में, मेरे रूप का जय-जयकार जो अहर्निश उद्‍घोषित होता रहता था !

मेरा रूप इतना अवर्णनीय है कि मेरी सृष्टि सामान्य नर-नारी के संगम से हुई है, यह विश्वास ही नहीं होता । इसलिए ब्रह्मा की श्रेष्ठ कलाकृति और मानस-कन्या के रूप में मेरा जन्म होने के बारे में अनेक किंवदन्तियाँ और कहानियाँ प्रचलित हैं । ये कहानियाँ मेरे रूप के विशेषण के सिवाय और कुछ नहीं हैं । ब्रह्मा ने मेरे पिण्ड की रक्षा की है और मेरा व्यक्तित्व गढ़ा है । इसलिए मुझे ब्रह्मा की श्रेष्ठ कलाकृति कहना असंगत नहीं होगा ।

जिस तरह आकाश अपना अन्त नहीं ढूँढ़ पाता, उसी तरह मनुष्य अपने अन्तर तक नहीं पहुँच पाता । मैं क्या चाहती हूँ ? क्या मिलने से मैं सुखी हो जाऊँगी ? क्या है मेरी काम्यवस्तु ?

मैं कुछ भी नहीं जानती । लक्ष्यहीन नाव की तरह मेरा बचपन बीत गया और किशोरावस्था आ पहुँची, पर मेरे लक्ष्यस्थल का कूल-किनारा कहाँ था ? कौन मुझे लक्ष्य पथ की ओर ले जाएगा – लक्ष्य-स्थल का ठिकाना बताएगा ?

पितामह ब्रह्मा की सृष्टि-प्रक्रिया और अपने जन्म-वृत्तान्त के बारे में मेरी देख-रेख करनेवाली प्रथा व अपनी चार अन्तरंग सहेलियों – त्वयी, आनीक्षिका, वार्ता और नीति से कितनी ही रोचक कहानी – किंवदन्तियाँ सुनने पर भी मैं सिर्फ़ अपने पिता का नाम जानती हूँ, मेरे पिता हैं ऋषि मुद्‍गल, माता का नाम और परिचय मैं नहीं जानती । गर्भधारिणी का नाम है जननी ... माँ । इससे बड़ा परिचय माँ का और कुछ नहीं । इसलिए अपनी माँ का नाम न जानने का दुःख मुझे नहीं है, दुःख है तो सिर्फ़ इस बात का कि मैंने माँ को नहीं देखा, माँ का प्यार, स्नेह, वात्सल्य क्या है ? नहीं जान सकी । मेरे पिता एक ऋषि होने के कारण सम्भवतः जगत् के कल्याण के लिए या फिर मोक्ष पाने के लिए मुझे पितामह ब्रह्मा की देख-रेख में छोड़कर तपस्या करने हिमालय चले गए होंगे । यदि मैं कन्या न होकर पुत्र हुई होती तो शायद मेरे पिता ने मेरी शिक्षा समाप्त होने तक मुझे अपनी देख-रेख में रखा होता, और उसके बाद तपस्या करने जाते । कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता । कन्याएँ लगभग गुरुकुल आश्रम नहीं जातीं । घर पर रहकर माताओं से शिक्षा प्राप्त करती हैं । मेरी माँ के न होने की वजह से मेरी शिक्षा का दायित्व पितामह ब्रह्मा पर है । भाई नारद कहते हैं, मैं बड़ी सौभाग्यशालिनी हूँ । पितामह ब्रह्मा का शिष्य अथवा शिष्या होना परम सौभाग्य की बात है । देवतागण बहुत साधना करने पर पितामह ब्रह्मा का शिष्यत्व प्राप्त कर पाते हैं । बाल्यावस्था से, समझ आने के पहले से, सम्भवतः जन्म से पितामह के स्नेह, देखभाल, प्यार और नियन्त्रण में रहकर मैं वनवासिनी होते हुए भी राजकन्या-सी सुख में हूँ । पितामह ने पिता का स्थान लिया है । इसलिए मैं उन्हें 'पिताजी' कहकर बुलाती हूँ । पर माँ कहकर किसे बुलाऊँ ? कौन देगा मुझे मातृ-स्नेह ? कौन

बताएगा मुझे जीवन के लक्ष्यस्थल का मार्ग ? कौन गाकर सुनाएगा नारी जन्म की सार्थकता और स्वप्न के मधुर-गीत ?

मातृस्नेह से वंचित कन्या हूँ मैं – कभी वन-लता-सी किसी गगनचुम्बी स्वप्नवृक्ष के सहारे सप्तलोक तक पसर जाती हूँ, उसका ओर-छोर तक नहीं मिलता । सखियाँ हमेशा मेरे रूप की ख्याति का गान कर करके मर्त्यलोक से ले जाकर स्वर्गलोक में बिठा देती हैं । मेरा चपल बालिका मन फिर मर्त्यलोक में रहना नहीं चाहता । मर्त्यलोक में रहने की बात होती तो स्रष्टा मुझे दिव्यरूपा अहल्या बनाकर क्यों गढ़ते ?

मर्त्यवासी होता है मनुष्य । स्वर्गलोभी देवता । मैं पितामह ब्रह्मा की श्रेष्ठकृति और आदरणीया कन्या होते हुए भी मर्त्य की रहनेवाली हूँ । इसलिए मधुस्रावी तटिनी किनारे मेरे लिए बने इस सुरम्य वन के सादगी-भरे पर्ण कुटीर में अपनी चार सखियों और प्रथा की देख-रेख में रहती हूँ । स्वर्ग मेरे लिए निषिद्ध है । पर मेरा मन भला यह बात कहाँ मानता है ! जो सुन्दरी अप्सराएँ स्वर्गलोक की शोभा बढ़ा रही हैं, वे मेरे पैर के तलवे के बराबर भी नहीं हैं, यह बात मैंने अपनी सखियों के मुँह से सुनी है । इसलिए मेरे मन में जाग उठी है स्वर्ग की ईप्सा । मन कभी-कभी विरोध करने लग जाता स्वर्गवासी देवताओं का स्वार्थ और पक्षपात देखकर । स्वर्ग उनका निवास है । तमाम दुर्लभ वस्तुओं के वे अधिकारी हैं । इसके बावजूद मर्त्य की दुर्लभ वस्तुएँ उनकी अर्घथाली हैं । वे जब चाहें मर्त्य में अवतरित हो जाते हैं । चाहें तो मनुष्य को योगभ्रष्ट करते हैं और चाहें तो मनुष्य की वास-भूमि में भी अपने आधिपत्य का विस्तार करते हैं, तो फिर मनुष्य ही क्यों स्वर्ग की शोभा-सम्पदा से वंचित रहे ? कम-से-कम अहल्या के लिए तो स्वर्ग का द्वार अपने आप खुल जाना चाहिए । अहल्या तो मर्त्यवासी नहीं है, वह तो अनिंद्या, अनन्या है । मुझे स्वर्ग और देवताओं की अलौकिकता की कहानियाँ सुनाने में मेरी चारों सखियों की अपार श्रद्धा है । उनकी विद्या और उनका ज्ञान अपार है । पिता ब्रह्मा की वे अन्तरंग शिष्या हैं । वे मुझे वेदवर्णित देवताओं से परिचित कराती हैं । मेरे पिता ब्रह्मा हैं, वेदों के रचयिता, इसलिए वेद सुनने में मेरा आग्रह अपार है । पिता के आदेश से मैंने भी कम उम्र से ही वेद सुनने की आदत डाली है । हालाँकि वेदवर्णित वरुण, विष्णु, यम, रुद्र, अग्नि, इन्द्र, वशिष्ठ आदि में से इन्द्रगाथा सुनने में मेरा मन अधिक लगता है, क्योंकि वे देवराज इन्द्र हैं – त्रिलोक के स्वामी । उनकी वीरता, शौर्य, ऐश्वर्य, सौन्दर्य, दयाशीलता, दान और साहस की कोई तुलना नहीं । वे देवदुर्लभ हैं । देवता और ऋषिगण सतत उनकी जय-जयकार करके उन्हें सन्तुष्ट करने में जुटे रहते हैं । मेरे पिता ब्रह्मा दिव्यद्रष्टा हैं । चारों वेद में उन्होंने इन्द्र का अशेष गुणगान किया है । समग्र वेद की दस सौ अट्ठाईस सूक्तियों में से दो सौ पचास सूक्तियों में उन्होंने इन्द्र की यश-ख्याति का ही गान किया है । इसके अलावा अन्य देवताओं का यश-गान करते समय भी वह इन्द्र का यश-गान करना नहीं भूले । मैं ऋग्वेद का अध्ययन करते समय उसमें से एक-चौथाई इन्द्रगीत ही गाने को बाध्य होती हूँ । सखियों के सामगान से, भाई नारद की उक्तियों से, पिताजी के मुख से, ऋषियों की मन्त्र-ध्वनि से इन्द्रदेव ही ध्वनित होते हैं । सात वर्ष की आयु में ही मैं इन्द्रदेव के विषय में बहुत-सा ज्ञान अर्जित कर चुकी थी और मन-ही-मन एक श्रेष्ठ पुरुष के रूप में इन्द्र की कल्पना कर चुकी थी । वेद का पृष्ठ पलटते ही इन्द्रगीत है । पृष्ठ पलटने की आवश्यकता ही नहीं ... मेरे पिता ब्रह्मा के मुँह खोलते ही वेदध्वनि और इन्द्र-कीर्ति झंकृत हो उठती हैं हृदय तंत्री में । पिताजी मुझे वेद पढ़ाते हैं । मैं ध्यानमग्न हो पिता के मुख से वेद के देवताओं के बारे में

मन्त्रमुग्ध-सी सुना करती हूँ और स्वर्ग के सपनों में खो जाती हूँ। इन्द्र का पराक्रम और महत्त्व मुझे मन्त्रमुग्ध कर देता है। प्रथा के मुँह से ब्रह्माण्ड का इतिहास सुनते-सुनते सोचा करती, इतिहास के पन्नों पर कितना सच है और कितना झूठ !

* * *

बाल्यावस्था की वह धूमिल स्मृति-रेखा अस्पष्ट होते हुए भी आज इस घड़ी रूप ले रही थी मेरी मनोभूमि की ओट में। रथ के भीतर बैठकर इन्द्रदेव के दर्शन करने से पहले मैं सखियों द्वारा उनके वर्णन को स्मरण करने के साथ ही एक अस्पष्ट सौम्य-रूप का अवलोकन कर रही थी।

इन्द्रदेव को उसी पाँच-छह वर्ष की उम्र में मैंने देखा था, केवल दो बार। उसके बाद पिताजी ने रम्यवन में इन्द्रदेव का प्रवेश निषेध कर दिया।

एक बार इन्द्रदेव के अपने रथ से उतरकर पिताजी के प्रकोष्ठ में चले जाने के बाद मैं उनके विमान के निकट जाकर उन अलौकिक अश्वों के साथ खेलने लगी और बाद में रथ पर मातली की सहायता से चढ़कर रथ चलाने का अभिनय करने लगी। मातली मुझसे बहुत स्नेह करते थे। उस दिन मेरा रथ चलाने का अभिनय देख मजाक में मुस्कराते हुए बोले – "तुम इस रथ की मालकिन होने योग्य हो। रथ चलाना तो मुझ जैसे सारथी का काम है। भला मेरी नौकरी के पीछे क्यों पड़ी हो ? तुम इस रथ की मालकिन बनोगी तो इन्द्राणी का इन्द्राणी पद नहीं जाएगा, पर तुम रथ चलाओगी तो मेरा पद ज़रूर चला जाएगा !" तब मैं मातली की अनेक बातें समझ नहीं पाती थी। समझ नहीं पाती थी, तभी सारी बातें याद रखकर पिताजी से तुरन्त पूछ लिया करती थी। पिताजी मुझे सारी बातें समझाने के बदले मातली पर खीज उठते। मुझ पर भी क्रोधित होते। "तुम क्यों इन्द्ररथ पर बैठने को उतावली रहती हो और तुम्हारी सखियाँ तुझे ऐसा करने से क्यों नहीं रोकतीं" कहकर उन पर भी क्रोधित होते। एक दिन मैंने पिताजी से कहा, "मातली कहते हैं कि मैं चाहूँ तो कुछ दिनों बाद इन्द्ररथ मेरा हो जाएगा और मैं उस द्रुतगामी रथ पर बैठकर त्रिलोक की प्रदक्षिणा कर सकती हूँ। यदि इन्द्रदेव मुझे अपने रथ की अधिकारिणी बना दें तो कितना अच्छा हो," इतना कहते हुए ताली बजाकर निष्पाप उल्लास से मैं नाचने लगी। पिताजी अचानक चिन्तित और गम्भीर दिखाई दिए। धीरे-धीरे बोले, "मातली की इस स्पर्धा के पीछे वासव की लोलुपता ही साफ़ दिखाई देती है मुझे। परन्तु वासव की यह अभिलाषा मैं पूरी नहीं होने दूँगा। वासव आर्यनायक से त्रिलोकपालक बन गए, इसलिए संसार में उन्हें छोड़कर कोई और सर्वोत्तम पुरुष नहीं है, उनकी यह धारणा दूर हो जाएगी एक दिन ...।" पिताजी की ये बातें न समझ पाकर मैंने अपनी चारों सखियों से पूछा। न जाने क्यों वे लोग किसी अज्ञात संकट की आशंका करने की तरह सशंकित दिखीं। उन्होंने सिर्फ़ इतना कहा, "अभी तुम नहीं समझ पाओगी – सर्वोत्तम होने में जितना यश मिलता है, उतनी ही पीड़ा और अपयश भी। स्रष्टा ने क्यों तुम्हें सर्वोत्तम सुन्दरी बनाया, सिर्फ़ वे ही जानते हैं।"

हाँ, उन्हीं दिनों की बात है। मैं रथ पर बैठकर रथ चलाने का अभिनय कर ही रही थी कि देखा, इन्द्रदेव पिताजी के प्रकोष्ठ से निकलकर रथ की ओर चले आ रहे थे। अपने शरीर की स्वर्णकान्ति, मणिमय मुकुट की आभा और दर्प-भरी चाल से दूर से वे ऐसे लग रहे थे मानो कोई गतिशील अग्नि-उत्सवमय यज्ञकुण्ड हों !

न जाने कैसे, पिताजी के डर या इन्द्रदेव के डर से हड़बड़ाकर रथ से उतरते समय मेरा पैर फिसल गया। मैं नीचे गिर पड़ी और मेरे पैर में मोच आ जाने के कारण बहुत कष्ट होने लगा। मैं रोने लगी, पर अगले ही क्षण स्वयं पर नियन्त्रण कर लिया। इन्द्रदेव अपने लम्बे-लम्बे डग बढ़ाते हुए पलक झपकते मेरे पास आ पहुँचे। अपनी सुगठित सशक्त बाँहें बढ़ाकर मुझे उठाने की वे चेष्टा करते इससे पहले मैं बड़े कष्ट से स्वयं उठकर लँगड़ाते हुए वहाँ से भागने लगी। कराहते हुए बाल-सुलभ सरलता से बोली, “नहीं-नहीं, आप मेरा स्पर्श न करें।” इन्द्रदेव ने अपने हाथ रोक लिए। चकित हो उन्होंने प्रश्न किया, “क्यों बालिके, मेरा पाप क्या है ? मैं तो शत्रु नहीं हूँ, दास नहीं हूँ, मैं तो आर्यपुरुष हूँ ...”

“मैं नहीं जानती। पिताजी ने मना किया है आपके निकट जाने के लिए। मैं छिप-छिपकर आकर आपके रथ में बैठती हूँ तो पिताजी की डाँट सुनती हूँ ...।” मैंने उनसे सच बात बता दी।

“किन्तु अन्य देवतागण तो तुम्हें बहुत लाड़ करते हैं। बृहस्पति आते ही तुम्हें गोद में बिठाकर पिताजी के साथ शास्त्रार्थ करते हैं। रुद्र तो मजाक में तुम्हारे क्षीण शरीर को अपनी एक हथेली पर रखकर डमरू बजाने जैसा अभिनय करते हैं। तुम डर से घबराकर जब रोने लगती हो, तब सर्प तुम्हें अभय देते हैं। पितामह भी उस दृश्य का उपभोग करते हैं। ये सूचनाएँ मुझे तुम्हारे भाई नारद से मिलती हैं। पितामह मेरे प्रति इतना भेदभाव क्यों रखते हैं ? मैं योद्धा होने के कारण क्या तुम्हारा वध कर दूँगा, कहीं ऐसी आशंका तो नहीं पितामह को ?” मैं कोई उत्तर न देकर लँगड़ाते हुए भागने को हुई। मेरे सामने हिमालय की तरह खड़े होकर इन्द्रदेव ने मेरा रास्ता रोक लिया। बड़े स्नेह से बोले, “देखें, देखें, क्या हुआ है ? हड्डी तो नहीं टूट गई ? अश्विनीकुमारद्वय को तुरन्त बुलवा भेजूँगा। अब तो तुम मुझसे नहीं डर रही हो न ? मैं दस्यु का दमन करता हूँ – पर बच्चों और नारियों की रक्षा करता हूँ। यहाँ तक कि शत्रु-पक्ष की नारी और शिशुओं का वध भी मैं नहीं करता। उन्हें उपयुक्त सुरक्षा प्रदान करता हूँ। तुम तो बहुत छोटी हो और नारी भी। अवध्य हो। तुम्हें अपने रथ पर बैठा देख मैं क्रोधित नहीं होता, बल्कि ख़ुश होता हूँ। समझ लो, यह रथ तुम्हारा है ...”

“मेरा !” रोना भूलकर मैंने प्रश्न किया।

“हाँ, जब तुम बड़ी हो जाओगी तब इस रम्यवन में बँधकर नहीं रहोगी। तुम त्रैलोक्य-मोहिनी होकर विश्व भ्रमण करोगी। स्वेच्छा से रथ में बैठकर उड़ती फिरोगी ...।”

“और आप ... ?” मैंने सिर झुकाए हुए प्रश्न किया। मैं इन्द्रदेव के विशाल सुन्दर स्वर्णाभ पैरों को ही देख रही थी। उनका चेहरा नहीं देखा था। उसके लिए मुझे सिर उठाकर अन्तरिक्ष तक जो देखना होगा !

देवराज इन्द्र ने मधुर स्वर में कहा, "इतना बड़ा रथ है मेरा ... तुम तो इतनी दुबली-पतली हो। मेरे बैठने के लिए भी स्थान बचा रहेगा। मैं तुम्हें पूरे ब्रह्माण्ड का दर्शन कराऊँगा। इन्द्रलोक तक ले जाऊँगा। वहाँ की सारी सुन्दर चीजें तुम्हें दूँगा। क्या उससे तुम्हें ख़ुशी नहीं होगी ?" मुझे डर लगा। इन्द्रदेव के साथ रथ में उड़ने की बात सुनकर पिताजी कितनी बुरी तरह क्रोधित होंगे, मैंने अपने बालिका-मन की परिधि में सोच लिया था। मैंने वहाँ से भाग जाने की चेष्टा की परन्तु मेरे पैर में मोच होने के कारण मुझे कष्ट हो रहा था। मैं अपना पैर पकड़कर वहीं बैठ गई। रोने लगी भय और यंत्रणा के मिश्रित भावावेग से। इन्द्रदेव बैठ गए मेरे सामने। बैठ जाने पर भी उनका मुखमण्डल मुझे नहीं दिख रहा था। उन्होंने अपनी सुगठित, सुन्दर, ताक़तवर हथेली पर मेरा छोटा, क्षीण, कोमल पैर रख लिया। उनकी हथेली पर मेरा पैर ऐसा लग रहा था मानो विशाल कमल पर ओस की एक बूँद। इन्द्रदेव ने मेरे पैर की चोट को बड़े यत्न और संवेदना से छूकर कहा, "तुम्हारे पार्थिव पैर की तुलना में अपार्थिव पारिजात भी तुच्छ है। देखो, अपने पैर के नीचे, मेरी हथेली पर लाखों पारिजात लोट रहे हैं ...।"

इस बार मैं खीज उठी। मेरे पैर में सारे ब्रह्माण्ड का दर्द था परन्तु इन्द्रदेव को मेरा दर्द न दिखकर पारिजात कहाँ से दिख रहे थे ? उनकी हथेली से अपना पैर उतारकर मैं वहाँ से भाग आई। इन्द्रदेव ने मुझे नहीं रोका। उस समय पिताजी मेरा नाम लेकर पुकार रहे थे।

और एक दिन की बात है। मेरा सातवाँ जन्मदिन मनाने में एक सप्ताह बचा था। मैं अपनी चारों सखियों के साथ बगीचे में बैठकर हँसी-ठिठोली भरी बातें कर रही थी। सोच रही थी कि जन्मदिन पर मेरा चेहरा कैसा लगेगा, मैं कैसे जान पाऊँगी ? पिताजी ने तो हमारे आश्रय के सारे दर्पण जलाशय में फेंक दिए। उन दिनों मैं निरन्तर दर्पण देखा करती थी। देव, किन्नर, ऋषि, मुनियों से अपनी प्रशंसा सुनकर दर्पण देखना मेरी एक बुरी आदत बन चुकी थी। इसलिए पिताजी ने नाराज होकर एक भी दर्पण आश्रम में नहीं रखा। नियमानुसार आश्रम में दर्पण नहीं होना चाहिए। मैं सोच रही थी कि कम-से-कम जन्मदिन पर तो एक दर्पण कहीं से मिल जाता तो अच्छा होता।

इतने में देवराज इन्द्र अपने रथ से उतरकर हमारी ओर आए। हम देवराज का अभिवादन करके सिर झुकाकर वहाँ से जाने लगे। इन्द्रदेव ने हमारा रास्ता रोक लिया मुझसे कहा, "इतना बताती जाओ कि जन्मदिन पर तुम्हारे लिए क्या उपहार लाऊँ कि तुम्हें ख़ुशी हो ? पारिजात, अमृत ... या ..." मैंने उसी तरह सिर झुकाए हुए सहसा कहा, "मुझे एक छोटा-सा दर्पण चाहिए। सिर्फ़ एक दिन के लिए ... हमारे घर में दर्पण नहीं है। पिताजी ने मना किया है ...।" देवराज ठहाका मारकर हँसे और बोले, "पितामह वेदगर्भ हैं। उन्होंने ठीक ही किया है। भला तुम्हें दर्पण की क्या आवश्यकता ? दर्पण तो उन्हें चाहिए जिनके मुख पर प्रसाधन के सहारे दिखावटी सुन्दरता की आवश्यकता होती है ...।"

"नहीं, आप मुझे जन्मदिन पर दर्पण ही दीजिएगा उपहार में ...। आपके पास अपार, ऐश्वर्य है। क्या एक दर्पण नहीं दे सकते मुझे ?" उसी तरह सिर झुकाए हुए भय से सिर्फ़ इतना ही कहा था मैंने।

* * *

सारी बातें पिताजी को कह सुनाईं। पिताजी ने गम्भीर होकर कुछ सोचा। मेरे जन्मदिन पर द्युलोक में किसी को निमन्त्रण नहीं भेजा गया। केवल सप्तसिन्धु अंचल के आश्रमवासी मुनियों और मुनिपत्नियों को ही निमन्त्रण भेजा गया। बिना आडम्बर के मेरा सातवाँ जन्मदिन मनाया गया।

उस घटना के बाद से पितामह ब्रह्मलोक में ही द्युलोकवासी देवताओं और इन्द्रदेव से मिलते। रम्यवन देवताओं के लिए निषिद्ध हो गया। तब से मैंने इन्द्रदेव को नहीं देखा। आज उनका रूप मेरे लिए बिलकुल अस्पष्ट है।

* * *

मैं नाबालिग हूँ। हित-अहित के ज्ञान से अपरिचित। मेरी उम्र है सिर्फ़ ग्यारह वर्ष। मातृस्नेह से वंचित होने के कारण पिताजी का प्यार पाकर मैं खूब लाड़ली बन चुकी थी। दुनियादारी मैं नहीं जानती थी। शायद इसीलिए पिताजी ने मुझे दुनिया के कठोर और अनुशासित जीवन का सामना करने से पहले गौतमजी जैसे तर्कनिष्ठ, तपसिद्ध गुरु के हाथों में सौंपने का मन बना लिया था। इसका विरोध करने की उम्र या साहस नहीं था मुझमें। इसके अलावा चारों सखियों के साथ अकेले रहकर केवल सामगान करने के कारण कभी-कभी मेरा मन उचटने लगता था। उससे छुटकारा पाने के लिए गौतम ऋषि के आश्रम में अन्य शिक्षार्थियों, गुरुओं, गुरुपत्नियों के बीच एक सुन्दर तपोवन में कुछ वर्ष बिताने के लिए मन में कुतूहल भी जागा।

किन्तु गौतम आश्रम में शिक्षा प्राप्त करना एक चपल बालिका सुलभ कुतूहल से कहीं अधिक कठोर और महत्त्वपूर्ण था, वह बात मैं समझ पाई थी उपनयन के बाद।

'मनुर्भव' – आचार्य गौतम दिन-रात यही गूढ़ज्ञान दिया करते। आचार्यजी के पास आने के बाद शिष्य या शिष्या को चार रात आचार्यजी अपने गर्भ में धारण करते हैं और उसके बाद उसे जन्म देते हैं, अर्थात् दिन-रात एकान्त में गूढ़ज्ञान देने के बाद वह शिष्य आचार्यजी की सन्तान के रूप में ग्रहण योग्य होता है। मेरे साथ भी यही हुआ। कुटिया में तीन रात आचार्य गौतम मुझसे 'मनुर्भव', 'मनुर्भव' ही कहते जा रहे थे। कहते जा रहे थे – सत्यंवद, धर्मंचर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्य कहो, धर्म करो, स्वाध्याय से विरत मत होओ। ये सब मेरे लिए नई बातें नहीं थीं। पिताजी से मैं यह दीक्षा ले चुकी थी। किन्तु गुरुकुल आश्रम के नियमानुसार तीन रातों तक मैंने आचार्यजी से मनुष्य बनने की – चरित्रवती होने की दीक्षा ली और चौथे दिन मेरे शिष्यत्व का जन्म-दिवस मनाया गया। देवगण उस उत्सव में भाग लेने आए थे। भैया नारद भी आए थे किन्तु इन्द्रदेव नहीं आए। छोटे-छोटे उत्सवों में भाग लेने वे द्युलोक से भूलोक नहीं आते थे किन्तु भाई नारद के हाथों उन्होंने जन्मदिन के उपहारस्वरूप मेरे लिए एक रत्नजड़ित दर्पण भिजवाया था लेकिन आचार्य गौतम ने उसे स्वीकार नहीं किया।

"इन्द्रदेव का आशीर्वाद और उनकी कृपा बनी रहे तो धन-द्रव्य की कोई आवश्यकता नहीं।" यह कहकर उन्होंने दर्पण लौटा दिया। और भी कई देवगणों ने स्वयं न आ पाने के कारण छोटे-बड़े उपहार भिजवाए थे। उन्हें स्वीकार कर लिया गया था लेकिन इन्द्रदेव का उपहार क्यों लौटाया गया, यह बात मैं समझ न सकी। विरोध करने की इच्छा होने पर भी चुप रही। गुरुकुल के कुछ नियम मुझे मानने होंगे। मैं ख़ुश थी कि अब मुझे द्विजत्व मिल गया। अब मैं चाहूँ तो देवताओं का सीधे-सीधे आवाहन कर सकती हूँ। मैं चाहूँ तो इन्द्रदेव का भी आह्वान कर सकती हूँ। माँ को नहीं देखा, इसलिए यह भी नहीं जानती कि मेरा जन्म मातृगर्भ से हुआ है या नहीं। किन्तु मेरा दूसरा जन्म आचार्य गौतम के मुख से विधिपूर्वक हुआ है। पहले आचार्यजी ने मेरे सिर पर हाथ रखकर मन्त्र पढ़ा। इससे मैं उनके गर्भ में चली गई, यह मान लिया जाता है। तीन रातों के बाद सावित्री मन्त्र पढ़ने पर मैंने उनके मुख से नवजन्म लिया। यही है नियम। यहाँ आचार्य हुए मेरी द्वितीय जननी। माता-पिता शारीरिक जन्म देते हैं – परन्तु आचार्य 'जाति' या संस्कार प्रदान करते हैं। उस दृष्टि से आज से मैं आचार्यजी की कन्या जैसी हुई। शुरू से ही मुझे लेकर आश्रम में द्वन्द्व और वितर्क होने लगे थे। उसका कारण मेरी बाल सहचरी ऋचा थी। आर्य-दास संघर्ष में अपने माता-पिता को खोकर अनाथ हो जाने पर मैं उसे अपने साथ लिवा लायी थी। ऋचा मेरी देह की परछाईं के समान थी। पिताजी ने सोचा था, ऋचा आश्रम के पास दास-पल्ली में किसी के पास रह जाएगी अथवा आश्रम की मुनिपत्नियों के कहने पर गाय-बछड़ों के काम, बाड़ी-बगीचों के काम करके आहार का जुगाड़ कर लेगी। किन्तु मैंने जिद की ऋचा को अपने साथ द्विजत्व प्रदान करने और शिष्या के रूप में स्वीकार करने की। आचार्य गौतम ने दृढ़तापूर्वक मेरे अनुरोध को ठुकरा दिया, क्योंकि ऋचा दासवर्ण की थी। जो लोग आगे चलकर सेवक और भृत्य का काम करके शूद्र रूप में गिने जाएँगे, उनके लिए वैदिक शिक्षानुष्ठान का द्वार निषिद्ध है। विशेषकर आचार्य गौतम इस विषय पर बड़े निष्ठावान् थे। मैंने तर्क रखा था, "तो फिर इतरा शूद्राणी के गर्भ से जनमे महीदास ने ऐतरेय उपनिषद् की रचना कैसे की ? कुमारी माता कृनिनिका के गर्भ और दास-पिता के औरस से जन्म लेने वाले इन्द्रदेव ने देवराज का पद कैसे प्राप्त किया, मन्त्र-योग्य कैसे बने ?"

मेरी बाल सखी, हर तरह से चारुशील ऋचा को केवल देह के काले रंग के कारण आज शिक्षा से वंचित होते देख मुझे बड़ा क्षोभ हुआ, तो क्या शास्त्रविद्, नैयायिक गौतमजी का यही न्याय है ?

पहले तो मैं रूठ गई कि ऋचा दीक्षित न हुई तो मैं भी दीक्षित नहीं होऊँगी। भैया नारद से सुना था कि भूलोक के इस पंचसिन्धु भूखण्ड पर वर्णभेद नहीं था। पंचसिन्धु आदि संस्कृति के निर्माता आदिम निवासियों ने साम्य, मैत्री और सामुदायिक जीवन को आधार बनाकर एक विशाल सभ्यता का निर्माण किया था। उस सभ्यता में स्पृश्य-अस्पृश्य, आर्य-दास का भेद नहीं था। समुदाय के कल्याण के लिए केवल समाज के बाहरी शत्रुओं और प्रकृति की प्रतिकूलता के विरुद्ध ही संघर्ष होता था। वह संघर्ष भी होता था समूहगत। उन लोगों में वर्णभेद की अवधारणा नहीं थी। चार वर्ण विभाग और चार आश्रम विभाग तो बाद की आर्य संस्कृति की देन है। इसी वर्ण-विभाग से बना है वर्णभेद और वर्णभेद से आज जातिभेद एक विकट व्याधि के रूप में दिखाई देने लगा है। वर्णभेद से पहली बार वर्ण विभाग की अवधारणा आर्यों ने बनाई और मानव जाति को आर्य एवं दास या भद्र एवं इतर – इन दो भागों में बाँट दिया गया। ईश्वर की दुर्लभ सृष्टि मनुष्य के अमृत अन्तस् तले चिरन्तन वर्ण-विद्वेष की रक्तरेखा

खींच दी गई दुनिया की आगामी पीढ़ी के लिए। कई आर्य-ऋषि स्वयं को इस कलंक से बचाने के लिए तर्क देते हैं कि देह के वर्णभेद से नहीं, कर्मगुण भेद से आर्य और दास अथवा दस्यु का वर्गीकरण किया गया है। यदि यही सच है तो आर्यों के गुण और कर्म होते हुए भी ऋचा को शिक्षा से वंचित क्यों कर दिया गया? कृष्णांगी और कृष्णकाय दम्पति की कन्या होने के कारण ही तो !

* * *

इतने में प्रथा ने सहसा प्रश्न किया, "आचार्यजी ! इन्द्रदेव इतने कामुक और नारी लोलुप हैं, यह जानते हुए भी आप आश्रम के सभी उत्सवों में उन्हें ही क्यों आमन्त्रित करते हैं ? आपके आश्रम में अनेक ब्रह्मचारिणी, विशेषकर अति सुन्दर ब्रह्मचारिणी अहल्या इस समय हैं। ऐसी स्थिति में क्या इन्द्रदेव को अतिथि के रूप में आश्रम में बुलाना उचित होगा ?" इतना कहने के बाद प्रथा मेरी ओर तिरछी नज़र से कटाक्ष करते हुए होंठ दबाकर मुस्कराई। उसके ऐसे आचरण से मैं कुछ ठिठकी। गौतम कुछ क्षण मौन रहे। सम्भवतः उन्हें ऐसे किसी सवाल की आशा नहीं थी। एक लम्बी साँस छोड़ते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारी आशंका बिलकुल निराधार नहीं है, किन्तु यह विवाहिता, कुँआरी – हर आश्रमवासिनी के लिए एक परीक्षा है। मेरा यह विश्वास है कि नारी की ओर से उसकी कमजोरी का थोड़ा-सा भी संकेत पाते ही इन्द्रदेव उसके साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे कामुक ज़रूर हैं, परन्तु बर्बर या इतर नहीं हैं। वे आर्यवीर हैं। उनमें सम्भ्रान्तता की कमी नहीं है। इसलिए जहाँ कहीं भी उन्होंने नारी के साथ अवैध यौन सम्बध स्थापित किया है, उन्हें नारी की ओर से उसकी कमजोरी का संकेत अवश्य मिला है। नारी दृढ़ चरित्रवती हो तो खूँखार बर्बर भी उसका अंग स्पर्श करने का साहस नहीं करेगा। इसलिए इन्द्रदेव को बुलाना हर दृष्टि से स्पृहणीय है। इन्द्रदेव किसी भी नारी के लिए उत्तुंग अग्निशिखा हैं। जो नारी उन पर पतंगे की तरह मँडराएगी, वह भस्म हो जाएगी।"

"किन्तु अग्नि तो निष्पाप और पापी दोनों को जला डालती है। अतः क्या अग्नि के प्रति सावधानी नहीं बरतनी चाहिए ?" इस बार नीति का था यह प्रश्नबाण।

आचार्य ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "अग्नि कितनी ही भयंकर क्यों न हो, जिस तरह त्रैलोक्य में उसकी आवश्यकता अपरिहार्य है, उसी तरह इन्द्रदेव चाहे कितने ही सोमप्रिय, नारीप्रिय और स्तुतिप्रिय क्यों न हों, त्रैलोक्य में उनकी उपस्थिति की कामना की जाती है। वे त्रैलोक्य के राजा हैं। उनका राज्य चिरस्रोता नदियों का उद्‌गम-स्थल है। व्योमयान, रथयान, आग्नेयास्त्र, अन्यान्य अस्त्र-शस्त्र, अर्थ-भण्डार, चिकित्सा विद्या – सबका उत्पादन और उनके वितरण की व्यवस्था उन्हीं के राज्य में होती है। वे त्रिभुवन को हर तरह की सहायता प्रदान करते हैं। बिना उनकी सहायता के अनार्य शत्रुओं का दमन करना सम्भव नहीं।

"भूखण्ड के एक छोटे-से अंश श्वेतद्वीप से अपना राज्य विस्तार करते हुए यदि आज आर्यों ने समग्र भूखण्ड को आर्यावर्त में परिणत किया है, तो उसका सारा श्रेय इन्द्रदेव को मिलना चाहिए। अब अनार्य लोग अपने-अपने उपांत अंचल को स्वतन्त्र घोषित करके स्वतन्त्र अनार्य राज्य बनाने का दावा कर रहे हैं। वे लोग आर्य

राजाओं की अधीनता स्वीकार नहीं कर रहे। अनार्य लोग दास बनकर आर्यमालिकों के पास काम करना नहीं चाहते। अब वे दास-प्रथा के विरोध में आवाज़ उठाने लगे हैं। यदि सारा आर्यावर्त इसी तरह विभाजित होता चला गया तो देश की अखण्डता पर आँच आएगी। बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से आर्यावर्त की स्वाधीनता लुप्त हो जाएगी। इस क्षेत्र में इन्द्रदेव ही सहायक होंगे। अनार्यदमन की कला और युद्ध कौशल वे ही जानते हैं इसलिए उनकी इन कुछ दुर्बलताओं के कारण अन्य अनेक पुरुषोचित गुणों को नकारा नहीं जा सकता। सुन्दर नारी के प्रति लोलुप दृष्टि रखना राजोचित और पुरुषोचित गुण भले ही न हो, पर उतना बड़ा दोष भी नहीं है। हाँ, नारी की कामुकता और पुरुष-लोलुपता बहुत बड़ा दोष है। इन्द्रदेव नारी नहीं हैं – पुरुष हैं – वीर पुरुष हैं। इसलिए वीरता और दानशीलता ही उनका परिचय है। नारियाँ चारुशीला हों तो इन्द्रदेव सदाचारी बने रहने को बाध्य होंगे।"

नीति ने विनम्रतापूर्वक कहा, "महोदय, कामुकता नारी के लिए अक्षम्य अपराध है, किन्तु पुरुष के लिए यह अपराध होते हुए भी क्षम्य है। यह नीति तो पुरुष ने ही चलाई है। उस बारे में हमें कुछ नहीं कहना। लेकिन हमने सुना है कि आर्य ऋषि और आर्य राजा इन्द्रदेव के अतिथि सत्कार के लिए अपनी पत्नियों को लगाकर उन्हें सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं। पत्नियों की सेवा और आतिथ्य के माध्यम से इन्द्रदेव के कृपाभाजन बनकर कई तरह से लाभान्वित होते हैं। क्या यह पत्नी का दुरुपयोग नहीं है ? क्या पत्नी राजा और दाताओं के मनोरंजन की वस्तु है? पुरुष भी तो अतिथि-सत्कार कर सकते हैं। तो फिर ऋषिगण अपनी सुन्दर पत्नियों को यह दायित्व क्यों सौंप देते हैं ?"

उपस्थित ऋषिगण नीति की उस स्पष्टवादिता से घबरा गए। ऋषि मुद्गल ने तीव्र स्वर में कहा, "यह अर्थ को अनर्थ करने जैसी बात है। नारी का सहज गुण है सेवा, साहचर्य और दूसरों के मन को समझकर उसकी सेवा करना। स्त्री अर्धांगिनी है, घर की कर्त्ता-धर्ता है। इसलिए घर में अतिथि आने पर स्त्री को उनका सत्कार करना न्यायसंगत है। जब नारी अतिथि का सत्कार करती है, तब अतिथि उसके लिए परमेश्वर होता है और अतिथि के लिए वह नारी होती है मातृ-देवी। यही होता है अतिथि और गृहिणी का सम्बन्ध। यदि इसे पत्नी का दुरुपयोग करना कहा जाएगा तो कोई किसी के द्वार पर नहीं जाएगा।"

नीति ने नतमस्तक होकर कहा, "मैं आपकी बात से सहमत हूँ, किन्तु यह भी सच है कि सुन्दर पत्नियों के माध्यम से अनेक कार्य करवाए जाते हैं और काम पूरा हो जाने के बाद पत्नी पर दोष मढ़ा जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण यहाँ दिए जा सकते हैं, जैसे – मेनका, रम्भा, उर्वशी ... । हालाँकि ये किसी की पत्नी नहीं हैं। किन्तु इन्द्रदेव की अतिप्रिय होने पर भी इन्द्रदेव ने राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त करने के लिए उनका उपयोग किया, फिर उन्हें अभिशाप दिया, उनके उस तरह के कामों के लिए ..."

"रहने दो, रहने दो – ऐसे एकाध उदाहरण देकर अतिथि सत्कार के कारण नारी की पवित्र और महती भूमिका को निन्दित और कलुषित करने से दोष लगेगा। ध्यान रखना, इन्द्रदेव के आतिथ्य में कोई कमी न रह जाए। वे केवल अतिथि के रूप में नहीं आ रहे। वे मेरे बाल्य सहपाठी भी हैं। हम दोनों में आदर्शगत और नीतिगत

मतभेद होने पर भी हमारे सम्बन्ध घनिष्ठ हैं। पितामह ब्रह्मा के गुरुकुल में कई वर्ष हमने एक साथ बिताए हैं। उनके सद्‌गुणों की तुलना में दुर्गुण तुच्छ लगते हैं। अतः अतिथि के रूप में उन्हें न बुलाकर और किसे बुलाता?"

इसके बाद उस दिन की बैठक समाप्त हो गई। हम ब्रह्मचारिणीगण वेदमाता आचार्याणी के साथ सोमरस बनाना सीखने के लिए उनके साथ चले गए।

* * *

आचार्य गौतम हमेशा उत्तर दिशा में बैठकर मुझे दक्षिण दिशा में बिठाकर अध्यापन करते थे। केवल वेदाध्ययन ही नहीं, अध्ययन के लिए बैठने की मुद्रा भी शास्त्रीय होती है, यह मुझे पहले से मालूम था।

अध्ययन विधि का अनुसरण कर आचमन करके मैं शुद्ध तथा स्वल्प वस्त्र धारण कर लेती। उत्तर की ओर मुँह करके नम्र हो बैठकर, घुटनों पर दोनों हाथ सुसंयत रूप से रख लेती। आचार्यजी की अनुमति मिलने के बाद ख़ुशी मन से अनन्यमति होकर उरु के तृतीय हिस्से पर दाहिनी कोहनी रखकर अधोमुखी हो इष्टमुद्रा में बैठ जाती। हस्ताग्र पर दृष्टि टिकाकर ब्रह्मांजलिबद्ध हो शास्त्र अनुचिन्तन करने लग जाती।

वेद अध्ययन से पहले जब गुरुजी का अनुसरण करते हुए शिष्यगण ओंकार उच्चारण करते, तब त्रयी विद्या का प्रतिनिधि परम अक्षर ओंकार की सर्वव्यापी महिमा से वनभूमि झंकृत हो उठती। ओंकार के साथ भूः, भुवः और स्वः इन तीनों व्याहृतियों का उच्चारण करते समय आश्रम को चारों ओर से घेर रखे वन के उस ओर से एक और ओंकार ध्वनि निकलकर मेरे कण्ठ की ओंकार ध्वनि में समा जाती। 'वह ओंकार ध्वनि ऋचा और रुद्राक्ष का सम्मिलित कण्ठ स्वर है' जानकर मैं प्रसन्न हो जाती किन्तु आचार्य अप्रसन्न दिखते। यह मेरी ही कीर्ति है, यह बात उनसे छिपी नहीं थी। परन्तु मैं ब्रह्माजी की लाड़ली होने के कारण, सम्भवतः वे चुप रहते।

आचार्यजी केवल अध्ययन नहीं कराते थे, मेरी दिनभर की गतिविधियों पर पैनी दृष्टि भी रखा करते। मेरी अन्य सहचरियों पर उनका उतना ध्यान नहीं रहता था। वे लोग मेरे साथ आई ज़रूर हैं, किन्तु पिताजी का मूल लक्ष्य है – मेरी शिक्षा। इसलिए मुझे ही कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, वेदग्रहण करना पड़ता था। मेरा खाद्य-पेय, आचरण और दैनन्दिन जीवन कठोर अनुशासन में बीत रहा था। अपने रम्यवन में मैं थी एक खुली चिड़िया। इसका मतलब यह नहीं कि मैं शरारती थी। वहाँ मैं गीत गाया करती, नाचती, जी-भरकर खाती-पीती थी, सखी-सहेलियों के साथ हँस-कूदकर दिन बिताया करती थी। वर्णभेद क्या है, नहीं जानती थी। रम्यवन में मेरे लिए सारे कार्य थे पुण्य कार्य, सारे आचरण थे धर्माचरण, जबकि मैं पाप-पुण्य की आक्षरिक परिभाषा नहीं जानती थी। यहाँ पाप और अधर्म से दूर रहने के लिए मुझे पाप और अधर्म की परिभाषा कण्ठस्थ करनी पड़ी। जो 'पुण्य' बहुत आसान लगा करता था, 'पाप' की परिभाषा जानने के बाद वह कठिन लगने लगा।

मुझे हमेशा आचार्यजी के अधीन रहना पड़ता था। मेरे लिए तीखा और नमकीन खाना मना था। अंग प्रक्षालन, गन्ध, माल्य, उपनाह, छत्र आदि धारण, अंजन, अंगराग, पुष्प इत्यादि का शृंगार, नृत्य, गीत, वाद्य,

क्रीड़ा-कौतुक इत्यादि आमोद मेरे लिए निषिद्ध थे। आचार्य गौतम मुझे उपदेश देते, 'तुम शान्त, क्षमाशील, गम्भीर एकान्तप्रिय, सत्यवादी, मितभाषी, संयमी, क्रोधरहित एवं अहंकारहीन होने का प्रयास स्वयं करो अहल्या! तुम्हारे भीतर क्रोध है, रूप का अहंकार भी है। तुम मृदुभाषी होते हुए भी मितभाषी नहीं हो। तुम क्षमाशील होते हुए भी क्रोधरहित नहीं हो। तुम शान्त होते हुए भी गम्भीर नहीं हो। तुम अत्यन्त चंचल एवं क्रीड़ा तथा आमोदप्रिय हो उठी हो। तुम भिक्षा माँगने जाते समय तथा गुरुजी के लिए नदी से जल, अरण्य से लकड़ी और यज्ञ समिध लेने जाते समय किरातग्राम, मल्लाहपल्ली एवं अनार्य बस्तियों में जाकर उन आर्येतर अशिक्षित वेदनिषिद्ध लोगों के बीच बहुत समय बिताती हो। उन लोगों से मित्रता रखती हो। तुम भूल जाती हो कि वे लोग हमारे परमशत्रु हैं। ब्रह्मचारिणी के रूप में तुम्हें निरन्तर गुरु की सेवा करनी चाहिए, गुरुजी से शिष्टतापूर्ण आचारण करना चाहिए और सर्वोपरि गुरुजी का अहित होने जैसा कोई काम नहीं करना चाहिए। गुरु की सेवा और भिक्षा माँगना ही ब्रह्मचारी का परम कर्त्तव्य है। गुरुजी की अनुमति लिए बिना भिक्षा से मिला द्रव्य अनार्य बस्ती में जाकर कई वृद्ध और शिशुओं को नियमित देती हो, ऐसा मैंने सुना है। भिक्षा में तुम जो भी कुछ लाओगी, पहले वह मुझे सौंपोगी और मेरे आदेश देने पर ही उसमें से थोड़ा-सा भोजन तुम करोगी। क्या तुम ऐसा करती हो?"

मैंने विनम्रतापूर्वक कहा, "करती हूँ, आचार्यजी। आपकी अनुमति के बिना मैंने किसी भी दिन भोजन नहीं किया। हालाँकि कई भूखे वृद्धों और बच्चों को भिक्षा में मिली चीजें मैंने दान में दी हैं। मैं नहीं जानती कि मैं जितनी भिक्षा माँगती हूँ, गृहस्थ लोग मुझे उससे अधिक भिक्षा स्वयं ही क्यों दे देते हैं। आप कहते हैं कि एक दिन के लिए जितना द्रव्य चाहिए, उतनी ही भिक्षा लाना। उससे अधिक लाए तो बचत की मनोवृत्ति बढ़ेगी। बचत की मनोवृत्ति से लोभ, मोह और अनावश्यक द्रव्य इकट्ठा करने की इच्छा होगी। अगले दिन के लिए द्रव्य बच गया तो आलसीपन बढ़ेगा। अपने पास द्रव्य की व्यवस्था होगी तो फिर भिक्षा माँगने की इच्छा नहीं होगी। इन बातों को सोचकर मैं भिक्षा में प्राप्त आवश्यकता से अधिक द्रव्य उन लोगों में बाँट देती हूँ, जिन्हें वास्तव में उसकी आवश्यकता है। जितना द्रव्य चाहिए उतना प्रतिदिन लाकर आपको दे देती हूँ। आपकी अनुमति लेकर भोजन करती हूँ। यदि इसमें मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो क्षमा करें, किन्तु अधिक द्रव्य का मैं करूँगी क्या?"

"लोग तुम्हें अधिक भिक्षा क्यों देते हैं, जानती हो?" गौतमजी ने कठोर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए प्रश्न किया। गौतमजी के प्रश्न का उत्तर न पाकर मैं निष्पाप सरलता लिए उनकी ओर देखती रही।

आचार्य गौतम मेरा चेहरा एकटक ताकते रहे। उनकी आँखों में था कठोर कटाक्ष। मेरा अपराध क्या था? मन बैठता जा रहा था उस बारे में सोच-सोचकर। गौतमजी कोई निषिद्ध वाक्य कहने के स्वर में बोले, "क्योंकि, क्योंकि तुम्हारा मुख अति सुन्दर है ..." इतना कहते-कहते गौतमजी के मुखमण्डल की शिरा-प्रशिराएँ कठोर हो उठीं जिससे उनका चेहरा बेहद असुन्दर दिखा। उनकी आँखें बता रही थीं कि अति सुन्दर मुख होना मानो मेरा अपराध था।

* * *

मेरे भावी पति रूप, ऐश्वर्य, वीरता और दानशीलता में इन्द्रदेव की तरह हों, यही थी सम्भवतः मेरे अवचेतन मन की कामना। किन्तु इन्द्रदेव ऋषि गौतम की तरह वेदज्ञ और दार्शनिक नहीं हैं। मैं चाहती थी कि मेरा भावी पति गौतम की तरह वेदज्ञ और दार्शनिक भी हो। इन्द्रदेव और गौतम दोनों की सारी खूबियाँ लेकर यदि किसी ने इस त्रिभुवन में जन्म लिया होगा, तो शायद उसे ही पिताजी मेरे लिए उपयुक्त समझते; किन्तु ऐसा सर्वांग-सुन्दर, सर्वगुण-सम्पन्न पुरुष क्या कोई था, जो अहल्या को हर तरह से सुखी रख सकता ? पार्थिव सुख तो सदा असम्पूर्ण होता है। असम्पूर्णता ही पार्थिव जीवन की यथार्थ परिभाषा है। यह सही है कि इन्द्रदेव सबका अभीष्ट सिद्ध करते थे; किन्तु मनुष्य का मन ऐसा है कि एक अभीष्ट पूरा हुआ नहीं कि दूसरे अभीष्ट को पूर्ण करने की कामना जाग उठती है। इच्छाएँ विविध हैं। विषय-इच्छा, भाव-इच्छा, त्याग-इच्छा, भक्ति-इच्छा, ऐसी न जाने कितनी इच्छाएँ मनुष्य के मन में निरन्तर उत्पन्न होती हैं, उनकी सीमाएँ निर्धारित करना मुश्किल है।

* * *

इन्द्रदेव ने इस बार मुझ पर अपनी मधुमय दृष्टि डाली। मैं आज के समावर्तन उत्सव में एकमात्र ब्रह्मचारिणी थी। मैं निर्मल चित्त से अकलुष नयन खोलकर इन्द्रदेव को अपलक देख रही थी। इन्द्रदेव ने मेरी ओर संकेत करके कहा, "हे भद्रा, स्वरूपा, सुभ्रु, सुचरिता, वधूयोग्या अहल्या ! कठोर ब्रह्मचर्याश्रम के बाद तुम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने जा रही हो। तुम राष्ट्र की ध्वजास्वरूप हो। तुम परिवार के मस्तक तुल्य हो। तुम सत्याचारिणी बनो। तुम्हारा सारा परिवेश मधुमय हो। जीव सृष्टि में विश्वनियन्ता ने तुम्हें अपूर्व देह प्रदान किया है। देह में तुम सहृदयता स्थापित करो। उपयुक्त गुरु के संस्पर्श में रहकर तुम ज्ञानवती हुई हो। ज्ञान और सहृदयता को समन्वित करके तुम विश्वकल्याणी बनो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य रूपी पाशविक मनोवेगों का नाश करके दिव्य नारी बनो। ऐश्वर्यवान्, न्यायपूर्ण, दानशील, अभीष्टदाता, सन्तानोत्पादक, विवेकशील पुरुष के समक्ष ख़ुद को अर्पित करो। यौवन, जरा, व्याधि और मृत्यु भी उन्हीं के साथ भोग करो। उनके प्रति विश्वस्त रहकर उन्हें भी अपने प्रति विश्वस्त करो।

"हे नारि ! तुम गृहयज्ञ की ब्रह्मा के समान हो। सारी प्रजा तुम्हारी सन्तान है। जिस तरह पृथ्वी माता के थोड़े से विचलन से भूकम्प जैसी ध्वंसलीला होती है, उसी तरह तुम्हारे चरित्र के अणुमात्र स्खलन से समाज, सभ्यता और संस्कृति दिग्भ्रष्ट हो जाएगी।

"हे वधूयोग्या अहल्या ! हे स्वर्णयोग्य इन्द्राणी ! इन्द्र अथवा शासक जिस तरह पूरे राष्ट्र का संचालन करते हैं, तुम उसी तरह परिवार एवं परिवार रूपी राष्ट्र का संचालन करके वीरांगना बनो। हे अमूषता ! हे साध्वी ! तुम अपनी आत्मशक्ति के बल पर बलात्कार को भी प्रतिहत करने में पूर्ण समर्थ हो। तुम्हारे सत्साहस एवं मनोबल के आगे दुराचारी पुरुष नतमस्तक रहे। काम के वशीभूत हो जो तुम्हारी ओर एक बार भी देखे, वह अभिशप्त हो जाए।

"हे ऋता ! तुम ऋतमार्ग का उल्लंघन मत करना। बचपन से तुमने धर्मनिष्ठ, तर्कनिष्ठ, दार्शनिक, ज्ञानगर्भ गौतम से शिक्षा प्राप्त की है। तुम प्रखर बुद्धिसम्पन्न हो। तुम्हारा स्वभाव मोदभरा और मोहक है। तुम चन्द्रमा के

समान हो। तुम्हारे हृदयकलश में तुम्हारी देह का सौन्दर्य संचरित हो। आध्यात्मिक सोमरस से तुम्हाराअन्तःकरण पूर्ण रहे। तुम ब्राह्मी बनकर अपनी दिव्य भावना से जगत् को प्रेरित करो। अपने दिव्य रूप से तुम दर्शकों के मन से पाप भावना को दूर करो। सौन्दर्य सबको आकर्षित करता है। इसलिए तुम सबको आकर्षित करके अपने महत्तर गुणों से धन्य करो। हे जननीयोग्या ! तुम सामाजिक विकास की आधारभूमि हो। ब्रह्मचर्याश्रम की सारी तपस्या तुम्हारे भावी जीवन को नियन्त्रित करे। उपयुक्त पुरुष को पति के रूप में वरण करने का समस्त अधिकार तुम्हें है। विवाह से पहले अपने भावी पति का रूप, गुण, चरित्र, व्यक्तित्व, जीवनादर्श इत्यादि समझकर विवाह के लिए सहमति देना। यह स्वतन्त्रता तुम्हें है। अन्त में हे हव्या ! मनुर्भव जनन्या दैव्यं जनम्। तुम मनुष्य बनो और दैवीय सन्तान उत्पन्न करो।"

इन्द्रदेव के उद्‌बोधन में मेरे प्रति जो अन्तरंगता थी, वह साफ़-साफ़ झलक रही थी।

* * *

आज पिताजी अकेले नहीं आए थे। उनके साथ थे स्वर्गलोक और अन्तरिक्ष के अनेक देवता, यक्ष, किन्नर। आए थे भूलोक के विशिष्ट मुनिगण।

सबके समाने पिताजी ने यह घोषणा की, "अहल्या ! सात दिनों के बाद तुम्हारे विवाह का आयोजन होगा। इन सात दिनों तक तुम अपने मन, चेतना और आत्मा को समर्पित करने के लिए तपस्यारत रहना। आज सबके सामने मैं तुम्हारे भावी पति का नाम सानन्द, सगर्व घोषित करता हूँ। वे हैं परम दार्शनिक महर्षि गौतम, तुम्हारे शिक्षा गुरु, तुम्हारे व्यक्तित्व के निर्माता। तुम्हारे भविष्य के पथप्रदर्शक ..."

धरती फट गई, आकाश टूट पड़ा, मरुतगण स्तब्ध हो गए, चाँद-सूरज एक साथ अस्त हो गए, नक्षत्रगण अन्तरिक्ष से कक्षच्युत हो गए, नदियाँ राह भटक गईं, सिन्धु लबालब भर गया, पर्वत भूमि में समा गए, वनस्पतियाँ पत्रहीन हो गईं ... पलभर में मेरी आँखों के आगे महाप्रलय उमड़ पड़ा किन्तु मैं उसी तरह खड़ी रही। विद्रोह की तीव्रता से कुछ बोल तक नहीं सकी – पर अपने भावों को रोक न सकी।

संकट की घड़ी में जब मनुष्य वाक्‌रुद्ध हो जाता है, तब भावरुद्ध भी क्यों नहीं हो जाता ? ऐसा होता तो मनुष्य भाग्यवान् होता। विद्रोह केवल अग्नि नहीं होता – जलधारा बनकर बह जाता है असहाय विद्रोह, निष्फल क्षोभ, कर्त्तव्यहीन विरोध। मेरी आँखों से अनियन्त्रित आँसुओं की धार बह चली।

पिताजी ने मुझे प्यार से समझाया, "एक न एक दिन तुझे पिता का घर छोड़कर जाना ही होगा। यह नारी जीवन का धर्म है। इससे आँसू बहना स्वाभाविक है किन्तु यह ख़ुशी की बात है कि तुम किसी अनजान जगह नहीं जा रही हो। रम्यवन की तरह गौतम आश्रम भी तुम्हें अतिप्रिय है। मैंने सुना है कि तुम्हारे वहाँ से विदा होकर आते समय पेड़-पत्ते, नदी-नाले, आर्य-अनार्य, पशु-पक्षी सभी रो रहे थे। तुमने भी आँसू बहाए थे और उन्हें दिलासा दे

आई थी कि बहुत जल्द उनके पास लौट आओगी। अतः तुम्हारे लिए ऐसा निर्णय लेकर मैं न केवल आनन्दित हूँ, बल्कि मुझे गर्व भी है।"

मैं पिताजी के सीने पर सिर रखकर रोने लगी। अन्य सभी मुझे आशीर्वाद देकर लौट गए। प्रथा मुझे कुटिया में लिवा गई पर मेरे आँसू रुक ही नहीं रहे थे।

गौतम उत्तम व्यक्ति, आदर्श पुरुष, ज्ञानी गुरु, सुशील और जितेन्द्रिय तपस्वी थे। वे सबके लिए पूज्य थे। मैं उनकी प्रशंसक थी, उनका सम्मान करती थी। उनके ज्ञान और दर्शन के आगे मैं स्वयं को धूल का एक कण मानती हूँ। किन्तु गौतम के प्रति 'गुरु' के सिवाय और कोई सम्बन्ध मेरी कल्पना तक में नहीं था – आगे हमारा सम्बन्ध कैसा होगा, कौन जानता था ? मैं आकाश-पाताल सोचने लगी थी और मेरे अन्दर के विद्रोह ने मानो रोने की ठान ली थी। पिताजी समझ चुके थे कि ये आँसू विदाई के नहीं हैं, विद्रोह के हैं।

पिताजी ने धीरे-से कहा, "तुम्हें याद है अहल्या ? जिस दिन तुम गुरुकुल से लौटी थीं, हमारे बीच कुछ बातचीत हुई थी और उसके बाद मैं ब्रह्मलोक चला गया था।"

"हाँ, याद है।"

"फिर से याद करो हमारे बीच की बातचीत।" पिताजी ने गम्भीर स्वर में कहा।

पिताजी का निर्देश मानकर आँसू पोंछते हुए सात दिन पहले की बातचीत मैंने याद की।

उस दिन पिताजी को प्रणाम करने पर उन्होंने मुझे आशीर्वाद देते हुए कहा था, "यशस्वी बनो अहल्या ! गौतम आश्रम में सिर्फ़ पाँच वर्ष के ब्रह्मचारी जीवन से तुम्हारे व्यक्तित्व में जो सुपरिवर्तन आया है, वह अति आवश्यक था। गौतम मेरे परम शिष्य थे। तुम बनी गौतम की शिष्या। इसलिए मेरी भी परम शिष्या हुई। गुरुकुल में तुम्हें कोई असुविधा तो नहीं हुई न? हालाँकि गौतम आश्रम के नीति-नियम और कठोर अनुशासन से शुरू-शुरू में तुम्हें घुटन तो हुई होगी किन्तु जीवन में अनुशासन भी आवश्यक है।"

मैंने स्निग्ध कण्ठ से कहा, "गौतम आश्रम में भला मुझे कैसी असुविधा? गुरुजनों ने पिता के समान और गुरुपत्नियों ने माता के समान मुझे प्यार-दुलार और उपयुक्त शिक्षा प्रदान करके मेरा जीवन धन्य कर दिया। मैं उनके प्रति कृतज्ञ हूँ। उनके सम्पर्क में न आई होती तो मेरे जीवन का एक हिस्सा अधूरा रह गया होता। यह सच है कि गुरु के रूप में अन्य शिष्यों की अपेक्षा मेरे प्रति आचार्य गौतम की अधिक कठोर नीतियों के कारण कभी-कभी मुझे घुटन होने लगती थी। किन्तु बाद में मैंने उसके साथ समझौता कर लिया था।"

मेरे मुँह से बात छीनते हुए प्रथा ने कहा, "तुम नारी हो साथ ही अत्यन्त सुन्दर हो, इस कारण गौतम का तुम्हारे प्रति अधिक ध्यान देना स्वाभाविक था। गुरु के रूप में यह गौतम की दक्षता का परिचय देता है।"

पिताजी ने पुनः प्रश्न किया, "गौतम संयमी होने के कारण कठोर दिखते हैं। और फिर तुम्हारे प्रति सतर्क रहने के अलावा और कोई चारा भी तो नहीं था उनके पास। चलो, छोड़ो यह सब। तुम यह बताओ कि एक व्यक्ति और ऋषि के रूप में गौतम के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?"

"उत्तम – अति उत्तम।"

"गौतम आश्रम का प्राकृतिक परिवेश देखकर तुम रम्यवन को भूल अवश्य गई होगी ?" पिताजी ने मुस्कराते हुए प्रश्न किया।

मैंने सहसा उत्तर दिया, "इतना भूल गई थी कि विदा होकर आते समय मुझे लग रहा था मानो गौतम आश्रम ही मेरा गृह है। रम्यवन है प्रवास। इसलिए मैं अपने आँसू नहीं रोक पाई थी।"

पिताजी मेरा उत्तर सुनकर प्रसन्न लग रहे थे। उन्होंने कहा, "मेरी बहुत बड़ी चिन्ता दूर कर दी तुमने अहल्या। अब मेरे अन्दर कोई द्वन्द्व नहीं रहा।"

उस समय इस बात का महत्त्व मैं समझ नहीं पाई थी। अब समझ रही हूँ। गौतम अति उत्तम पुरुष हैं और गौतम आश्रम अपने घर जैसा लगता था, यह बात मैं पिताजी को पहले ही बता चुकी हूँ। आज कैसे कह दूँ कि पिताजी ने मेरी राय लिए बिना मेरा विवाह तय किया है ?

परन्तु क्या किसी को गुरु के रूप में, मनुष्य के रूप में उत्तम कहने का अर्थ उसे पति के रूप में पाकर सुखी होना है ? कुल मिलाकर मैं गौतम के प्रति किसी भी तरह का आकर्षण महसूस नहीं कर पा रही थी। गौतम में नारी मन को लुभाने जैसा पुरुषोचित शारीरिक सौन्दर्य ढूँढ़ने पर कोई भी हताश होता। दाढ़ी और केश कुछ-कुछ धूसर रंग धारण कर चुके थे। यह उनके ज्ञान की परिपक्वता को प्रमाणित करता था। तपोदग्ध खर्बकाय शरीर अत्यन्त शीर्ण था। उनका शुष्क और कठोर दार्शनिक व्यक्तित्व नीरसता भर देता था मन में। कुल मिलाकर गुरु के सिवाय उनके साथ अन्य किसी भी तरह के सम्बन्ध के भाव मन में नहीं उठ सकते थे। गौतम की उम्र भी मुझसे बहुत अधिक थी। मुझसे बीस वर्ष से भी अधिक बड़े थे। किन्तु क्या यह बात पिताजी से कही जा सकती थी कि 'गौतमजी के प्रति कोई आकर्षण अनुभव नहीं कर पा रही ... मेरी स्नायु में गौतम के रूप ने कभी हलचल नहीं मचाई, भविष्य में कभी मचाएगी, सन्देह है। इसलिए मैं उनसे विवाह नहीं करूँगी।' पिताजी तुरन्त क्या उत्तर देते, मैं जानती थी। वे कहते – 'किसका आकर्षण ? देह का, मन का या आत्मा का ?' उसके बाद देह की असारता और आत्मा की चिरन्तनता पर दार्शनिक तत्त्व बखानने लगते ठीक गौतम की तरह। आज मैं यह सब सुनने की स्थिति में नहीं थी इसलिए चुप रही। लेकिन मेरे मन का उद्वेलन पिताजी से छुपा नहीं था। सात दिनों तक पिताजी और प्रथा विवाह की पवित्रता और उद्देश्य कहते रहे मेरे कानों में – मानव जीवन में विवाह संस्कार एक पवित्र संस्कार है। विवाह का अर्थ है– विशेष कर्त्तव्य का निर्वाह करना। उसमें बाह्यरूप, सामान्य गुण, कर्म, स्वभाव की समानता महत्त्वपूर्ण नहीं है। उत्तम गुण, कर्म, स्वभाव को महत्त्व देना चाहिए। ऐसा नहीं करने पर विवाहित जीवन अभिशाप में बदल जाएगा, इत्यादि-इत्यादि।

मैंने प्रथा से प्रश्न किया, "पत्नी पति से किस तरह अतिशय प्रेम कर सकती है ?"

प्रथा ने मुस्कराते हुए कहा, "प्रेम जबरन लादा नहीं जा सकता । इसलिए स्वयंवर की व्यवस्था समाज में प्रचलित है । जो नारी पुरुष के सुन्दर व्यवहार, रूप, स्वभाव और सौजन्य पर मुग्ध होकर पति-वरण करती है, वह पति से खूब प्रेम करती है ।"

मैंने मन-ही-मन कहा – 'तो क्या गौतम को पति के रूप में पाकर प्रेम करना सम्भव होगा ?'

पिताजी मेरी स्वगतोक्ति भी सुन लेते थे । उन्होंने दृढ़ स्वर में कहा, "किन्तु स्वयंवर में पति-वरण करते समय सिर्फ़ आँखों की मदद से बाहरी रूप-लावण्य देखकर मुग्ध हो पति-वरण करना उचित नहीं । मन और ज्ञाननेत्र से पुरुष के गुण और स्वभाव भी देखकर पति-वरण करना उचित है । सिर्फ़ सुदर्शन पति पाकर कोई सुखी नहीं हो जाता । पति ज्ञानी और तपस्वी हो तो पत्नी को सुख मिलता है । विवाह हो जाने मात्र से ही भौतिक विकास नहीं होता । आपसी सहयोग से दम्पति एक-दूसरे के विकास में सहायक होते हैं । इसलिए सारी बातें सोचने के बाद ही मैंने गौतम को तुम्हारे लिए उपयुक्त पति के रूप में चुना है । मैं जानता हूँ कि तुम्हारे साथ पाँच वर्षोंतक खूब हिल-मिलकर रहने पर भी गौतम ने कभी तुम पर कामनापूर्ण दृष्टि नहीं डाली । तुम्हारा अंग स्पर्श करने की बात तो दूर, तुम्हारी परछाईं तक का स्पर्श नहीं किया उन्होंने । ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष की कामना कोई भी नारी अवश्य करेगी । संसार के नीति-नियमों का वे कड़ाई से पालन करते हैं । सुखी होने के लिए एक नारी को भला इससे अधिक और क्या चाहिए ?"

भले ही मैं नहीं जानती थी कि सुख के लिए सामाजिक नियमों से परे कुछ और है भी या नहीं – किन्तु मेरा अनुभव कहता था, गौतम जैसे शास्त्र-निपुण पति संस्कृति को समृद्ध कर सकते हैं, पर पत्नी की सुख-समृद्धि में सहायक होंगे, इस बात की कोई निश्चितता नहीं । इसलिए अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि पिताजी की इच्छा से मुझे पिता समान गुरु गौतम को पति के रूप में स्वीकार करना ही होगा ।

सात दिनों तक पिताजी के उपदेश और गौतमजी की प्रशंसा सुनते-सुनते मैं बोल पड़ी, "पिताजी ! गौतम मेरे गुरु हैं । इसलिए पितातुल्य हैं । उपनयन के समय उन्होंने मुझे गर्भ में धारण करके नया जन्म दिया है । अतः उन्हें मैं पति के रूप में कैसे स्वीकार कर सकती हूँ ?"

मानो पिताजी मुझसे इसी तरह के प्रश्न की आशा कर रहे थे । उन्होंने सहसा उत्तर दिया, "पति होता है पत्नी का परमगुरु । पति के बिना पत्नी की शिक्षा पूरी नहीं होती । इसलिए गुरु का पति होना अनैतिक नहीं, बल्कि परम सौभाग्य है ।"

नीति-अनीति निर्भर करती है तर्क व व्याख्या पर, और तर्क के बल पर नीति-अनीति की व्याख्या बदली भी जा सकती है । कुल मिलाकर गुरुजनों के आगे कुछ बोलना निरर्थक था । ब्रह्माजी ने एक बार जो कह दिया वह ब्रह्मवाक्य था, अतः अकाट्य था । मेरी इच्छा हो रही थी विरोध करने की । लेकिन क्या लाभ ? किन्तु आचार्य

गौतम की उम्र और उम्र में पिता-पुत्री जितना अन्तर था, प्रथा ने मेरे मन से यह द्वन्द्व भी दूर कर दिया। पुरुष का ज्ञान और यश एवं नारी का रूप, यौवन, चरित्र और सौन्दर्य विवाह के लिए नितान्त आवश्यक हैं। इसलिए मेरी उम्र सोलह वर्ष होने पर भी आचार्य गौतम की उम्र के बारे में प्रश्न करना अनुचित है।

रात बीतते ही मेरा विवाह आर्षमत से सम्पन्न हो जाएगा। किसी ऋषि को कन्यादान करना एक पुण्य कार्य है। यह आर्षविवाह वैदिक विधान से बाहर नहीं है; बल्कि राजा को कन्यादान करने की अपेक्षा ऋषि को कन्यादान करना प्रशंसनीय कार्य है। राजा और ऋषि – इन्हें छोड़कर जो साधारण मनुष्य समाज के नानाविध विकास के लिए अपना श्रम, स्वेद, मेधा और जीवन निछावर करते हैं, क्या वे उपयुक्त पति नहीं बन पाते? वे ही लोग तो साधना और तपस्या के बल पर ऋषि, राजा और इन्द्र बनते हैं। किन्तु सभी राजा या ऋषि बन जाएँ तो राज्य की समन्वित सुख-समृद्धि सम्भव नहीं। परन्तु पिताजी की दृष्टि में उनमें से कोई भी अहल्या के समकक्ष नहीं था – इसलिए गौतम ही मेरे भवितव्य थे।

मैं पूरी रात जागती रही।

ताप

ऐ मेरे अन्तरतम ताप! मुझे तपा दे, मुझे मिटा दे।

तीन तरह के पापों से सन्तप्त है यह जीवन। काम, क्रोध, लोभ आदि आध्यात्मिक ताप, हिंसक जीवादि की क्रूरता के आधिभौतिक ताप और वज्र, वर्षा, विस्फोट आदि प्राकृतिक आपदाओं के आधिदैविक ताप से झुलस रहा है मनुष्य। मनुष्य के रूप में इस पृथ्वी पर जन्म लिया है मैंने, इसलिए ताप से झुलसना जीवन का एक अभिन्न अंग मान लेना होगा। क्या बिना तपे जीवन जी लेना सम्भव है?

आज विवाह-संस्कार की होमाग्नि मुझे मोदमुग्ध करने के बदल तापदग्ध कर रही थी और मैंने उसे सहज भाव से स्वीकार भी लिया था। आज की यह अनसोची प्राप्ति मुझे पत्थर बना रही थी। अपने चंचल सपनों को विवाह के यज्ञ में मैं स्वाहा करती चली जा रही थी।

ब्राह्ममुहूर्त में आचार्य गौतम दूल्हे के वेश में और गौतम-आश्रम के अन्य आचार्यगण बाराती के रूप में रम्यवन में पहुँच गए। आचार्य गौतम को दूल्हे के वेश में देखकर मैं उल्लसित नहीं हुई, न जाने क्यों सशंकित और संकुचित हो गई। आचार्यजी का वह वेश मेरी कल्पना में कभी चित्रित नहीं हुआ था। इसलिए उनके रूप के साथ वर का वेश कुछ अटपटा लग रहा था। वे होमाग्नि की तरह लग रहे थे – पवित्र किन्तु कठोर। पिताजी, भैया नारद और अन्य देवताओं ने हमारी ओर से वर और बारातियों का सादर स्वागत किया। पिताजी ने वर-पक्ष को यज्ञ सम्पादन करने की अनुमति प्रदान करके हमारे घर के श्रेष्ठ के हिसाब से स्वयं ही पुरोहित का कार्य प्रारम्भ कर दिया। उसके बाद शुरू हो गया कन्या-पक्ष की ओर से 'इन्द्राणी कर्म'। अब मैं इन्द्राणी-सी सजी हुई थी। प्रत्येक वर इन्द्र जो होता है और प्रत्येक वधू इन्द्राणी!

जीवन में कम-से-कम एक दिन स्वयं को श्रेष्ठ समझ सभी आनन्दित होते हैं। आज गौतम हैं 'इन्द्र' और मैं 'इन्द्राणी'। 'इन्द्राणी-कर्म' के दौरान आठ सधवाएँ हम दोनों की प्रशस्ति गा-गाकर नृत्य कर रही थीं। जब उनका नाच-गाना चल रहा था, आचार्य गौतम वर के रूप में मेरे निकट आए। वे मुझे विवाह-वस्त्र, अंगराग, पुष्पमाला एवं दर्पण इत्यादि विधिपूर्वक उपहार में देने वाले थे। आचार्य गौतम कैसा अभिनव उपहार मुझे देंगे, उसे देखने के लिए प्रथा के साथ उपस्थित नारियाँ जिज्ञासु हो उठीं। उपस्थित दर्शक-मंडली को वर-पक्ष का विवाह-उपहार हमेशा रोमांचित करता है।

विवाह के समय वर-पक्ष से कन्या के लिए यही प्रथम उपहार होता है। इसलिए कन्या के रूप-रंग एवं उसकी रुचि के अनुसार उसे पसन्द आने और उसे अधिक आकर्षक बनाने जैसे सोने के सलमा-सितारों से जड़े चित्र-विचित्र सुन्दर अधोवास और अधिवास उपहार में देना सम्भ्रान्त आर्य परिवार की परम्परा थी। ऊनी कपड़ों की किनारी में सोने के जरदोजी का काम करने में वैदिक नारियाँ निपुण थीं। इसलिए विवाह में उपहार देने के लिए वर-पक्ष की ओर से बहुत पहले से ही सोने के सलमा-सितारे जड़े वस्त्र 'पेशस' आदेश देकर बुनवाए जाते थे।

उसके साथ अत्यन्त आकर्षक कसीदाकारी से पूर्ण वक्षोवास 'प्रतिधि' आकर्षण का केन्द्र बन जाया करता था। लेकिन मेरे लिए गौतमजी का उपहार था 'मृगाजिन' (मृगछाल)। मृगाजिन की गिनती एक दिव्य परिधान के रूप में होती थी। यज्ञ के समय याज्ञिकों की पत्नियों द्वारा मृगाजिन धारण करने की प्रथा थी और मृगाजिन सहजता से एवं हर समय न मिलने के कारण याज्ञिक परिवार में दुर्लभ वस्त्र के रूप में गिनी जाती थी। दीक्षा ग्रहण करते समय 'मृगाजिन' अपरिहार्य था। इसलिए अपनी पत्नी के लिए सोने के सलमा-सितारे जड़े पेशस (ऊनी वस्त्र) न लाकर उपहार में 'मृगाजिन' देकर गौतम ने उचित कार्य किया है, यह चर्चा वयस्क नारियों के बीच चल रही थी, जबकि युवतियाँ बातें कर रही थीं, "इन्द्रयोग्या अहल्या ब्रह्मचारिणी जीवन में मृगाजिन पहना करती थी, इस बारे में किसी को कुछ नहीं कहना। किन्तु मधुशय्या वाले गृह में संन्यासिन के वेश में मृगाजिन पहनकर जाना क्या सही होगा ? क्या आचार्य गौतम अहल्या को मधुशय्या की रात्रि में भी उनसे दीक्षा ग्रहण करने को बाध्य करेंगे ?" मुझ पर दृष्टि डालते हुए किसी-किसी को ऐसा कहते हुए मैंने सुना था।

अंगराग की पेटिका खोलते ही प्रथा चौंक उठी। उसमें सुरभित अगरु, चन्दन, हल्दी, गोरचना, कुंकुम आदि होना चाहिए था। पर उसमें थी यज्ञ की राख ! और दर्पण के बदले थी एक कृष्ण-शिला। इन पदार्थों के पीछे गूढ़ दार्शनिक तत्त्व छुपे हैं, ऐसा वहाँ उपस्थित ऋषि-मुनियों एवं देवगणों को कहते सुन मैं अनायास ही उदास हो गई।

प्रथा मेरे उदास-भाव को देखकर धीरे-धीरे बोल रही थी, "पति सत्य हो तो पत्नी श्रद्धा है, पति भाव हो तो पत्नी वाणी है, सत्य के साथ श्रद्धा के सम्बन्ध की तरह, पति के साथ पत्नी का सम्बन्ध नित्य है। पति और पत्नी का आपसी प्रेम ही दाम्पत्य जीवन को मधुमय बनाता है। इसलिए इन उपहारों की औपचारिकता पर ध्यान मत दो। आचार्य गौतम एक नीतिनिष्ठ दार्शनिक हैं। इसलिए उनका प्रत्येक आचार-व्यवहार, विचारों का गूढ़ अर्थ

समझने की चेष्टा करोगी तो तुम सुखी रहोगी। अर्थ समझे बिना उन पर दोषारोपण करने से तुम अकारण ही दुखी हो जाओगी अहल्या ! दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी के बीच इसी कारण दूरियाँ बन जाती हैं।

"नारी होती है मंगलमयी। तुम एक सुन्दर नारी हो और आज वधू हो। 'व' अर्थात् आनन्द को प्रकम्पित करते हुए यदि तुम गौतम के हृदय की प्रेम तरंगों को उद्वेलित कर सकीं तो समझ लो कि 'वधू' का सही कर्त्तव्य निभा लोगी।"

प्रथा मेरे कान के पास एक-एक करके सारे विधि-विधान, उचित-अनुचित, करणीय-वर्जनीय बातों की सूची बताती जा रही थी। मैं सुन रही हूँ या नहीं, उसकी ओर उसका ध्यान नहीं था।

कन्यादान का समय आ पहुँचा। पिताजी ने मेरे मधुमय दाम्पत्य जीवन की कामना करते हुए परमेश्वर से प्रार्थना की, "हे सर्वमंगलमय परमेश्वर ! मेरी इस कन्या अहल्या को मैंने जगत् की श्रेष्ठ नारी के रूप में गढ़ा है। न केवल शरीर से मैंने उसे अहल्या रूप दिया है, बल्कि नीति-नियम एवं संस्कार प्रदान करके अति यत्न से उसे विदुषी और ब्रह्मवादिनी बनाया है। उसने उपयुक्त गुरु से शिक्षा प्राप्त करके पूरी निष्ठा से ब्रह्मचारिणी जीवन का संयमपूर्वक निर्वाह किया है। उसने मन, वचन और कर्म से आज तक शुद्धपूत यज्ञमय जीवन बिताया है। गौतम जैसे तपोनिष्ठ जितेन्द्रिय महर्षि की वह उपयुक्त पत्नी बन सकती है। मेरी कन्या अहल्या का हृदय मधुमय और उसकी भावना प्रेममय है। उसके अन्तःकारण में माधुर्य का ही वास है। बचपन से मैंने उसे वेदों से मधुविद्या की ही शिक्षा दी है। गन्ने को पेरने से जिस तरह प्रतिदान में वह मधुर रस प्रदान करता है, मेरी मधुमती कन्या अहल्या भी चाहे जितना दुःख, विघ्न, विपदा एवं अश्रद्धा भोग करे, वह रुक्ष, प्रतिशोध परायण एवं हिंसक न होकर माधुर्य की धारा ही बहाएगी। यदि कभी उसे अन्याय या गलत फैसले का सामना करना पड़ा तो भी वह कटु-व्यवहार न करके अपनी देह, मन, आत्मा से मधुर प्रवाह की मन्दाकिनी प्रवाहित कर अन्याय को न्याय और विपदा को सम्पदा में बदल देगी।

"हे प्रभो ! आज मेरा परम सौभाग्य है कि सुशील, कर्मठ, जितेन्द्रिय एवं ब्रह्मवादी पुरुष महर्षि गौतम के हाथों में मैं अपनी कन्या सौंप रहा हूँ। मैं गौतम के प्रति कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने इस दुर्लभ दान को सहृदयता से स्वीकार किया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की आशा में आज यह नवदम्पति पवित्र गृहयज्ञ का शुभारम्भ करने जा रहा है। हे विश्वविधाता ! उनके मंगलमय दाम्पत्य जीवन में सहायक बनें। हे परमात्मा ! उनसे मेधावी, परोपकारी, दीर्घायु पुत्र पैदा होकर पृथ्वी का अशेष कल्याण करें।" इतनी प्रार्थना करके पिताजी ने नवदम्पति को पवित्र जल से अभिषिक्त किया।

न जाने किस भावना से अभिषेक कलश की जलधार से मेरी अश्रुधार अनायास मिल गई।

पिता का घर छोड़कर जाते समय कन्या की आँखों से आँसू बहना स्वाभाविक है। आँसू न बहाना नारी सुलभ आचरण नहीं। इसलिए मेरे आँसू अन्य लोगों के आनन्द उल्लास में बाधक नहीं हुए। किन्तु गौतम

निर्विकार थे – क्योंकि वे यतिश्रेष्ठ और जितेन्द्रिय पुरुष हैं। निर्विकार रहना यतिसुलभ आचरण है। सात्त्विक, निराडम्बर वातावरण में पाणिग्रहण की घड़ी आ पहुँची।

आचार्य गौतम ने मेरा दाहिना हाथ पकड़ा और भाव-गम्भीर स्वर में बोले, “देवि ! मैं स्वयं को सौभाग्यशाली और तुम्हें सौभाग्यवती बनाने के लिए तुम्हारा पाणिग्रहण कर रहा हूँ। देवि ! तुम मेरे यौवन, बुढ़ापा और व्याधि की सहचरी बनकर रहोगी, इसलिए मैं तुम्हारा पाणिग्रहण कर रहा हूँ। यौवनकाल में पति-पत्नी के बीच भोग ही व्यवधान बना रहता है, लेकिन बुढ़ापे में पति-पत्नी के बीच निर्मल सात्विकता दोनों की आत्माओं को एकाकार करती है। आकाश और धरती की तरह हमारा सम्बन्ध चिरन्तन रहे। देवि ! तुम्हारे भाग्यशाली, न्यायशील, वेदज्ञ पिता ने तुम्हारा ब्रह्मचारिणी जीवन निर्वाह करने के लिए तुमको मुझे सौंपा था। आज गृहस्थाश्रम निर्वाह करने के लिए वे तुमको मुझे सौंप रहे हैं।

“भग, आर्यमा, सविता, पुरन्धि आदि देवगण तुमको मुझे सौंप रहे हैं। अतः मैं सभी के प्रति कृतज्ञ हूँ। हे देवि ! तुम अनेक सद्गुणों से विभूषित हो। मैं ऋक् मन्त्र हूँ तो तुम हो साम् मन्त्र। हे देवि ! तुम मेरे गृह को सुशोभित करो। अपने कमनीय-रमणीय स्पर्श से मुझे दिव्य करो।”

आचार्य गौतम के ज्ञानपूर्ण मधुरवाणी में न जाने कैसा दिव्य सम्मोहन था कि उनके प्रति मेरे मन का विरोध सहसा मिट गया। सम्भवतः पवित्र विवाह संस्कार के प्रभाव ने मेरे मन के अवचेतन में स्वीकृति माँग ली थी। किन्तु गौतम का स्पर्श मेरे रक्त में उदग्र उष्णता उत्पन्न नहीं कर सका था। मैं स्निग्ध शीतल चाँदनी रात्रि-सी शान्त पड़ गई थी। ऋत्विजों द्वारा उच्चरित विवाह मन्त्र को वर-वधू द्वारा एक स्वर में उच्चारण करना विवाह-विधि है परन्तु गौतम जैसे वेदज्ञ के सामने ऐसा कौन ऋत्विज् होगा जो मन्त्रपाठ करेगा। इसलिए गौतम ने स्वयं ही मन्त्रपाठ करना प्रारम्भ कर दिया। मैं यंत्रवत् उनके स्वर में स्वर मिलाने लगी।

“जिस तरह प्राणवायु देह का निःस्वार्थ सेवक है, उसी तरह हम दोनों एक-दूसरे की निःस्वार्थ, निष्काम सेवा करके एक-दूसरे के विकास में सहायक होंगे। सैकड़ों विघ्न-बाधाओं के बावजूद कोई किसी का परित्याग नहीं करेगा। वृक्ष जैसे धरती को आश्रय बनाता है उसी तरह हम एक-दूसरे पर आश्रित रहकर प्रीतिपूर्वक जीएँगे। यह संसार विघ्न-बाधाओं भरी पथरीली नदी के समान है। पहाड़ी नदी के प्रखर प्रवाह में अकेले नदी पार करना अत्यन्त कष्टदायी है इसलिए पथिक एक-दूसरे का हाथ पकड़कर निर्विघ्न नदी पार करते हैं। संसार-रूपी नदी को पार करने के लिए हम दोनों एक-मन, एक-प्राण हों। काम-क्रोधादि आवेग रूपी बोझ ढोते हुए संसार-रूपी नदी के तेज प्रवाह को पार करना कष्टसाध्य होने के कारण पहले इस क्षतिकारक आवेगों का त्याग करेंगे ...।”

किसी ने ठिठोली करते हुए कहा, “आचार्य गौतम भूल रहे हैं कि अब वे अहल्या के गुरु नहीं – पति हैं। किन्तु पाणिग्रहण करते समय वे वेदमन्त्र ऐसे बोलते चले जा रहे हैं कि बेचारी अहल्या इस चिन्ता में डूब गई हैं कि मधुशय्या रात्रि की परिणति क्या होगी।”

गौतम यह सुन कुछ मुस्कराकर चुप हो गए।

'हस्तग्राह' के बाद सप्तपदी शुरू हो गई। आचार्य गौतम ने मेरा हाथ थामे हुए यज्ञाग्नि के चारों ओर सात फेरे लिए। दोनों पत्थर के टुकड़ों पर चले और अग्नि की प्रदक्षिणा की। अग्नि में धान की लइया और शस्य अर्पित किया। सांसारिक जीवन में पत्थरों पर चलना पड़ता है और अनेक प्रिय पदार्थ दूसरों को सन्तुष्ट करने के लिए अर्पित करने पड़ते हैं, इतना संकेत करने के बाद विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ। गौतम गुरुकुल के आचार्य गौतम ही रहे। किन्तु अब मैं रम्यवन की मुक्त विहंगिनी अहल्या नहीं रही। अब मैं गौतम-पत्नी अहल्या थी। मेरा आवास अब रम्यवन नहीं – गौतम आश्रम है।

विदाई से पहले पिताजी ने हम दोनों को सीने लगाकर कहा, "हे दम्पति ! गृह होता है पति-पत्नी के सामूहिक सपने का उद्यान। गृह होता है दोनों का साधना-क्षेत्र। हृदय में एक-दूसरे के प्रति प्रेम की आहुति देकर गृह यज्ञ को प्रज्वलित करो। जीवन में मिठास भरने के लिए एक-दूसरे के प्रति रुचिकर व्यवहार करो और आकर्षक व्यक्ति तत्त्व धारण करके गृह-आँगन को शोभामय करो। हे दम्पति ! आदर्श प्रेम से तुम्हारा दाम्पत्य जीवन पवित्र और मिठासपूर्ण हो। तुम दोनों एक-दूसरे का आभूषण बनकर गृह की शोभा बढ़ाओ। दाम्पत्य प्रेम के रहस्य का पता लगाकर उसे महत्त्व दो। तुम्हारा घर और परिवार स्वर्ग में परिणत हो।"

एक-एक करके सभी देवताओं और ऋषियों ने 'यशस्विनी भव', 'पतिव्रता भव', 'सौभाग्यवती भव' आदि आशीर्वचन मेरे भविष्य पर उड़ेल दिए। किन्तु देव – देव इन्द्र अभी तक नहीं दिखे। पिताजी ने उन्हें विवाह का निमन्त्रण दिया था। गौतम के साथ बचपन से कलह और मतभेद के कारण इन्द्रदेव द्वारा ब्रह्मापुत्री अहल्या के विवाह के निमन्त्रण की उपेक्षा करने का अर्थ था – ब्रह्माजी की उपेक्षा करना। इन्द्रदेव द्वारा कभी ऐसा असौजन्य व्यवहार करने का उदाहरण नहीं था। इन्द्रदेव भी अहल्या के आकांक्षी थे, यह बात किसी से छिपी नहीं थी। ब्रह्मा द्वारा इन्द्रदेव का प्रस्ताव ठुकराकर गौतम के साथ विवाह सम्पन्न कर देने के कारण इन्द्रदेव के अहं को ठेस पहुँची है। इन्द्रदेव चाहें तो वज्रपात करके गौतम को ध्वंस कर सकते हैं किन्तु वज्राघात सुकुमारी अहल्या को भी लग सकता है। इसी डर से सम्भवतः इन्द्रदेव शान्त हैं। ऐसी अनेक सम्भावनाओं पर अभी चर्चा हो ही रही थी कि इन्द्रदेव अपनी सम्भ्रान्त मुद्रा में सभास्थल में आ पहुँचे। वे उपहार में लाए थे स्वर्ग के पारिजातों की माला और तरह-तरह के आभूषण। उनका सौम्यभाव अक्षुण्ण था।

पहले उन्होंने पिताजी से विलम्ब से आने के लिए क्षमा माँगी, "पितामह ब्रह्मा ! मैं बहुत पहले आ चुका होता। किन्तु जल वितरण व्यवस्था को लेकर पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग के बीच तर्क-वितर्क होकर एक विषम स्थिति पैदा हो गई थी। यदि मैं उस समस्या का समाधान किए बिना चला आता तो आज दास-आर्य के संघर्ष में रक्तपात हो सकता था। यह घटना एक गम्भीर रूप धारण कर लेती तो आज विवाह में खलल भी पड़ सकता था, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता।

"दासवर्ग के लोगों द्वारा अधिक जल व्यय किया जाता है, कहकर उन पर आरोप लगाया गया है। वे लोग मेरे द्वारा वितरित पुण्य जलधारा आर्यों के साथ बराबर-बराबर पाने के हक़दार हैं या नहीं, उस पर विचार करने के लिए मैंने एक ज़रूरी बैठक बुलाई थी। बैठक में काफी तर्क-वितर्क हुए। अन्ततः उस समस्या का समाधान होने के

बाद ही मेरा यहाँ आना सम्भव हुआ। इसलिए इस अनचाहे विलम्ब के लिए मैं आपसे, मित्र गौतम से और देवी अहल्या से क्षमा माँगता हूँ।"

नारद भैया ने मुस्कराते हुए कहा, "देवराज ! आपके शीघ्र आने से जो फल मिलता है – विलम्ब से आने पर भी वही फल मिलता है। 'शुभस्य शीघ्रम् ... विलम्बे अभीष्टसिद्धिः' ये दोनों वाक्य केवल आपके लिए ही लागू होते हैं। कुल मिलाकर मेरी बहन के प्रति आपकी करुणा एवं आशीर्वाद होने पर ही वह सुखी होगी। आपको तो मालूम ही है कि वैदिक विवाह के दो लक्ष्य होते हैं। पहला है, पुत्रवती होकर पति के वंश की रक्षा करना और दूसरा, 'सु-रत' अर्थात् दाम्पत्य सुख प्राप्त करना। परन्तु वंश बचाने के लिए सन्तान पैदा करना मुख्य है और सु-रत उसके बाद। 'पुत्राय क्रियते भार्या', 'पुत्रः पिण्डप्रयोजनम्' अर्थात् पुत्र प्राप्ति के लिए भार्या लाई जाती है और पिण्डदान करने के लिए पुत्र की आवश्यकता होती है। ये बातें मुझसे पहले भी कही जा चुकी हैं। आज मैं कह रहा हूँ और मेरे बाद अनेक महर्षि ये ही बातें कहेंगे।

"अनेक आर्यऋषि यौनकामना का दमन करके यौवन में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वृद्धावस्था में पहुँचते हैं पर वंश बचाने की उदग्र कामना से ऊपर न उठ पाकर बुढ़ापे में भी विवाह करने से नहीं झिझकते। ऋषि अगस्त्य के बारे में तो आप जानते ही हैं। सारा जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करके उन्होंने महर्षि पद प्राप्त किया, किन्तु वृद्धावस्था में पितृपुरुषों को नरक से उद्धार करने की कामना से विदर्भ की सुन्दर राजकुमारी षोडशी लोपामुद्रा से विवाह किया था। वृद्धावस्था में ऋषि च्यवन ने पश्चिम आर्यावर्त के राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या से विवाह किया था। वृद्ध ऋषियों द्वारा सोलह वर्ष की सुन्दर कन्याओं से विवाह करने के अनेक उदाहरण हैं। आचार्य गौतम वृद्ध भले ही न हों, पर उनकी उम्र काफी हो चुकी है। उन्होंने मेरी सोलह वर्ष की अनिन्द्या सुन्दरी बहन से विवाह किया है। उसे दाम्पत्य सुख प्रदान करना गौतमजी का व्यक्तिगत मामला है किन्तु वंश चलाने के लिए मेरी बहन का कम-से-कम दस पुत्रों की जननी होना अन्य आर्यविज्ञों की तरह ऋषि गौतम का भी लक्ष्य होगा। इसलिए आज विवाह वेदी से उठकर आये इस नवदम्पति को आप यही आशीर्वाद दें, 'दश अस्यां पुत्रान् आधेहि।' 'हे इन्द्र ! इस कन्या को दस पुत्र प्रदान करें।' पर आप केवल आशीर्वाद ही देंगे। महर्षि गौतम कितने पुत्र सन्तान के जनक बनेंगे, यह उन पर निर्भर करता है। आशीर्वाद देने के अलावा उनके जीवन के किसी अन्य मामले में भला आप क्यों हस्तक्षेप करेंगे ! आख़िरकार गौतम आपके मित्र और गुरुभाई हैं और अहल्या आपकी गुरुकन्या।" इतना कहकर भैया नारद ने मृदु मुस्कान के साथ इन्द्र और गौतम की ओर बारी-बारी से देखा।

नारद भैया ने इस परिहास से गौतम आमोदित नहीं हुए, मन-ही-मन खीजे, किन्तु इन्द्रदेव आमोदित हुए।

इन्द्र ने हाथ उठाकर मुझे आशीर्वाद दिया। उनका आशीर्वचन किसी को सुनाई देने-सा नहीं था इसलिए मैं भी नहीं सुन पाई। सिर्फ़ चुपचाप स्वीकार करके इन्द्रदेव के चरण-स्पर्श करते समय उन्होंने कहा, "देवि अहल्या ! आज के आशीर्वाद का उस 'वर' से कोई सम्बन्ध नहीं है जो मैंने तुम्हें समावर्तन उत्सव के दिन दिया था। वह वर तुम्हारे लिए यथावत् है। वह वर तुम अपने जीवनकाल में जब भी चाहो, बेझिझक माँग सकती हो। हाँ, मेरा 'इन्द्रपद' रहने तक ही माँग लेना। नहीं तो तुम जो माँगोगी, हो सकता है, मैं तुम्हें देने की स्थिति में न रहूँ। मेरे सुनने

में आया है कि अनेक ऋषिगण इस समय 'इन्द्रपद' की प्राप्ति के लिए कठिन साधना कर रहे हैं। इन्द्रपद मेरी पैतृक सम्पत्ति नहीं है, मुझे इसके प्रति विशेष प्रलोभन भी नहीं है, क्योंकि यह एक ऐसा पद है, जिस पर बैठने के बाद तुम सबकी भ्रान्ति का शिकार होने को बाध्य हो। इसका एकमात्र कारण है – इन्द्रपद की क्षमता और इसके प्रति दूसरों की तुम्हारे प्रति ईर्ष्या। उस दिन तुमने रत्नहार स्वीकार नहीं किया था। इसलिए आज तुम्हारेविवाह के अवसर पर पारिजात पुष्पों की यह माला उपहारस्वरूप प्रदान करता हूँ। ये पुष्प दिव्य भावनाओं से इस तरह सुगन्ध बिखेरते हैं कि स्वर्ग से बाहर आकर भी नहीं मुरझाएँगे। प्रेमीयुगल यदि एक-दूसरे से पार्थिव नीति-नियमों से अलग हो जाएँ तो क्या उनके भीतर का अपार्थिव प्रेम मर जाता है !" इतना कहकर इन्द्रदेव मेरी ओर एक ऐसी मनमोहक दृष्टि से देखते रहे कि मैं सम्मोहित हो उठी।

इन्द्रदेव की मोहक दृष्टि से अपनी दृष्टि मिलाते ही मैं सब कुछ भूल गई। इतने में प्रथा ने मेरे कान के पास धीरे से कहा, "इन्द्रजाल ! अहल्या ! इन्द्रदेव के इन्द्रजाल में फँसना बहुत आसान है ... किन्तु उस जाल से बाहर निकलना बहुत कठिन।"

इतना सुनते ही मैं सँभल गई। मैंने इन्द्रदेव से सहसा प्रश्न किया, "आर्य और अनार्य के बीच जल-विवाद का आपने क्या हल निकाला ? अनार्यों को कृषि और व्यापार के लिए पर्याप्त जल-सम्पदा मिलेगी न ?"

मेरे इस अप्रासंगिक प्रश्न से सभी हतप्रभ रह गए। भैया नारद ने अपनी स्वभाव-सुलभ रसिकतापूर्ण भाषा में कहा, "आश्चर्य होता है तुम्हारा आचरण देखकर अहल्या ! अब तुम ऋषिपत्नी हो। तुम्हें बल्कि यह पूछना चाहिए कि आर्य ऋषिगण अपने आश्रम में जिस परिमाण में जल-सम्पदा व्यय कर रहे हैं, भविष्य में उन्हें उस परिणाम में जल-सम्पदा मिलेगी या नहीं ? गौतम आश्रम इन्द्रदेव के करुणा-जल से वंचित तो नहीं रहेगा ! पर तुम विवाह लग्न में उन उपद्रवी अनार्य लोगों के बारे में सोच रही हो ? मुझे तो लगता है कि तुम्हारे हृदय का अधिक हिस्सा तुम्हारे अनार्य सखा-सहेली रुद्राक्ष और ऋचा आदि ने घेर रखा है। बेचारे आर्य ऋषि गौतम की हालत तो अनार्यों से भी बुरी हो जाएगी !"

नारद भैया के इस व्यंग्य को अन्य लोग उनका स्वाभाविक मजाक मानकर हँसने लगे परन्तु गौतम रुक्ष और कठोर लगे। गौतम आश्रम के अन्य ऋषिगण त्रस्त लगे। लेकिन इन्द्रदेव मार्तण्ड की तरह चिरप्रसन्न लग रहे थे। इन्द्र के संकेत पर उर्वशी, मेनका, रम्भा आदि पारिजात की माला मेरे गले में डालने को आगे बढ़ ही रही थीं कि गौतम ने गम्भीर स्वर में कहा, "धन्यवाद इन्द्र ! मैं तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ। किन्तु तुम्हारी यह पारिजात की माला स्वीकार करने के लिए मैं अपनी पत्नी अहल्या को अनुमति नहीं दूँगा, क्योंकि मरणशील पृथ्वी पर जहाँ प्रतिदिन असंख्य फूल मुरझा जाते हैं, यदि वहाँ अहल्या न मुरझाने वाले पारिजात की माला की अधिकारी हुईं तो उनमें अहंकार भर जाएगा। वे स्वयं को दूसरों से अलग और श्रेष्ठ समझने लगीं तो उनके अन्दर के सद्गुण मुरझा जाएँगे। वे आत्मज्ञान से दूर चली जाएँगी। यह उनके लिए अति क्षतिकारक होगा। इसलिए उन्होंने आपका आशीर्वाद स्वीकार कर लिया ... पारिजात की माला विनम्रतापूर्वक लौटा रही हैं। अहल्या अनन्या नहीं हैं ... वे भी रक्त-मांस से बनी एक साधारण नारी हैं। उनके लिए पारिजात की माला क्यों ?"

गौतम की इस अनुदार चिन्ता एवं असौजन्य व्यवहार से न केवल इन्द्र व्यथित हुए, बल्कि मैं भी व्यथित हुई । अन्य सभी व्यथित हुए । ऐसा करके इन्द्रदेव को अपमानित किया गया, कुछ लोगों को ऐसा लगा । मैंने सोचा – गौतम ने रत्नहार और पारिजात की माला, दोनों से मुझे वंचित कर दिया । क्या उन्होंने मेरे लिए सर्पहार रखा है ? इसका मतलब यह है कि मैं गौतम की दृष्टि में अनन्या, असाधारण श्रेष्ठ नारी नहीं हूँ ! रक्त-मांस से बनी एक साधारण नारी हूँ ! हाँ – जब बिना चेष्टा के दुर्लभ वस्तु प्राप्त होती है, तब उसका मूल्य घट जाता है । पिताजी ने गौतम के समक्ष मेरा मूल्य घटा दिया है । गौतम ने मेरे लिए पिताजी से निवेदन नहीं किया था, बल्कि स्वयं पिताजी ने अपनी कन्या के लिए गौतम से प्रार्थना की थी । ब्रह्मा जिसके समक्ष प्रार्थी होंगे, उसका स्वयं को सर्वश्रेष्ठ और मुझे साधारण समझना अस्वाभाविक नहीं । कल सुबह भला वे कैसे नहीं कहेंगे कि तुम्हारे पिता स्वयं ही तुम्हें सौंप गए ? मुझे तुम्हारी आकांक्षा नहीं थी । केवल ब्रह्माजी का अनुरोध नहीं टाल सका... ओह ! क्यों किया पिताजी ने ऐसा ? मेरे भीतर की असामान्य नारी के अहंकार को चकनाचूर करने की कहीं पिताजी की यह कोई सुनियोजित योजना तो नहीं है ?

इन्द्रदेव निर्विकार रूप से पुनः आशीर्वाद देकर दास, दासी और परिचारिकाओं के साथ लौट गए । पिताजी के पास छोड़ गए केवल एक सुसज्जित रथ । वह रथ वे पिताजी को समर्पित कर गए थे परन्तु उनका उद्देश्य था कि वर-कन्या उसी रथ पर बैठकर अपने घर लौटेंगे । सम्भवतः पिताजी ने पहले से ही ऐसी इच्छा प्रकट करके एक 'रथ' मँगवाया था । पिताजी ने बनवाया था एक दिव्य तल्प (पलंग) । मधुवास के शुभारम्भ के लिए पिताजी ने उदुम्बर (गूलर) वृक्ष की सूखी लकड़ियों से वह पलंग शुभ संकल्प के साथ सुदक्ष कारीगरों से बड़े प्रेम से बनवाया था । पितृ-गृह से कोई और उपहार पति-गृह जाए या न जाए, शुभ संकल्पपूर्वक बनवाया गया एक सुसज्जित पलंग प्रत्येक पिता वर-कन्या को उपहार में देता है । सुहागरात को इस पलंग पर शयन करके वर-कन्या द्वारा मधुर दाम्पत्य जीवन के आरम्भ करने की विधि है । इससे उदुम्बर की मणि के समान मेधावी सन्तान पैदा होती है, ऐसा विश्वास है ।

गौतम ने इन्द्रदेव द्वारा दिया गया रथ और पिताजी का पलंग दृढ़तापूर्वक लौटा दिए । बोले, "मैं एक आदर्श शिक्षक हूँ । कन्यापक्ष द्वारा दिया गया कोई भी उपहार ग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं है । भविष्य में यही उपहार एक सामाजिक व्याधि बनकर कन्या के पिता के लिए बोझ बन सकता है । इसके अलावा अहल्या ऋषिपत्नी हैं । वे गुरुकुल आश्रम के अध्यक्ष की पत्नी हैं । वह विलास-व्यसन से दूर रहने की आदत डालेंगी । इसलिए वे मेरे साथ आश्रम तक पैदल चलकर जाएँगी और वहाँ ज़मीन पर तृण-शय्या में सुहागरात बिताएँगी । यदि वे इससे सुखी न हुईं तो उनका मेरे साथ दाम्पत्य जीवन में भी सुखी होना सम्भव नहीं । सुख वस्तुगत नहीं है, आत्मगत है । मेरी पत्नी के रूप में अहल्या का कम-से-कम इस बात पर ध्यान देना उचित होगा ।"

मेरी ताप-दग्ध यात्रा उसी क्षण प्रारम्भ हो गई – जिस क्षण तेज धूप में तपती हुई गौतम का अनुसरण करते हुए मैंने काँटोंभरे जंगली रास्तों से होकर अपनी कर्मभूमि गौतम आश्रम की ओर पग बढ़ाया था ।

विदा के समय पिताजी ने मुझे गले से लगाकर कहा था, "जाओ पुत्री ! प्रसन्नचित हो परीक्षाओं का सामना करो। अपने अहल्या नाम को सार्थक करो। स्वयं यज्ञ स्वयं ही स्वाहा बनकर मेरी सार्थक सृष्टि के रूप में स्वयं को प्रमाणित करो।"

मेरा हृदय खण्ड-विखण्ड हो गया पिताजी की बातों से। राख पोतकर तृणशय्या में मधुयामिनी बिताकर गौतम पत्नी के रूप में स्वयं को प्रमाणित करूँ मैं या यज्ञ और स्वाहा बनकर ब्रह्मापुत्री के रूप में स्वयं को प्रमाणित करूँ मैं ! किन्तु यह 'मैं' कौन है ? किसके अधीन है यह 'मैं' ? गौतमजी के या ब्रह्माजी के ? क्या इस 'मैं' ने एक नारी-देह को धारण किया है। उसी क्षण से मेरा स्वाध्याय प्रारम्भ हो गया। मैं स्वयं को अपने ही अन्दर ढूँढ़ने लगी। पिताजी के चरणों की धूल लेते ही उन्होंने पहली बार मुझे गोद में उठा लिया। मैंने रुँधे हुए गले से कहा, "इस बिन माँ की सन्तान के प्रति आपने इतना कठोर दण्डविधान क्यों किया पिताजी ? मैं इस परीक्षा में कैसे उत्तीर्ण होऊँगी ? क्या गौतम आश्रम में मैं अपने 'स्व' को ढूँढ़ पाऊँगी ?"

पिताजी की आँखें अनायास भर आईं। उन्होंने संयत स्वर में कहा, "पितृकेन्द्रित आर्य सभ्यता में सिर्फ़ तुम ही नहीं हो – हर लड़की तुम्हारी तरह परीक्षाओं का सामना करती है। उत्तीर्ण भी होती है। गौतम न्यायपूर्ण हैं। वे तुम्हारे प्रति अन्याय नहीं करेंगे। तुम्हारे अहल्यात्व को स्थापित करने के लिए यदि कभी वे रुक्ष और कठोर हो जाएँ, तो समझ लेना कि वह केवल सुधारने का एक बहाना है। बाहर से गौतम एक सुन्दर युवा-पुरुष भले ही न हों, लेकिन वे कामुक, दुश्चरित्र, विलासी या भ्रष्टाचारी नहीं हैं। उनके साथ सुखी रहने की चेष्टा करना। एक पतिव्रता नारी को जो कुछ करना चाहिए, वही करना।"

विदाई यात्रा आरम्भ करने से पहले पिताजी ने पुनः मुझे उपदेश देते हुए कहा था, "हे अशेष गुणवती दुहिता ! तू आज सुमंगलमयी वधु है। गृहस्थ जीवन एक महायज्ञ है। गृहयज्ञ की मुख्य यजमान नारी है। विवाहयज्ञ से अग्नि ले जाकर तुम नए गृह में स्थापित करना। प्रातः एवं सायंकाल अग्निहोत्र अनुष्ठान करके आत्म सौरभ को यज्ञ-सौरभ में बदलकर अपना गृह सुरभित करना। तुम बनोगी विश्व की यज्ञवेदी। उसी यज्ञवेदी से उत्पन्न होंगे लोग-कल्याणमय, शुभ-संकल्पवान् प्रजागण। इसलिए तुम्हारे स्नेह और पवित्रता के बिना गृहयज्ञ पूरा नहीं होगा, यह स्मरण रखना। महर्षि गौतम ब्रह्मचर्य की शक्ति से शक्तिवान् हैं। लेकिन महर्षि से देवर्षि और देवर्षि से ब्रह्मर्षि बनने के लिए उनमें जो संकल्प है, वह तुम्हारे धर्म, कर्म, प्रेम और सहयोग के बिना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि तुम हो गौतम की अर्धांगिनी।

"हे मानमयी अहल्या ! तुम आज अतिथि बनकर गौतम आश्रम नहीं जा रही हो, शिक्षार्थिनी बनकर नहीं जा रही हो, गृहरूपी विशाल साम्राज्य की साम्राज्ञी बनकर जा रही हो। तुम महर्षि गौतम की सदाचारी सचिव बनकर त्याग और प्रेम के अनुशासन से गृह-राज्य पर शासन करना। तुम्हारा गृह कोई साधारण साम्राज्य नहीं है। तुम्हारा गृह एक गुरुकुल आश्रम है। इसलिए वह एक अभिनव साम्राज्य है। उस साम्राज्य में प्रजाओं का चरित्र और व्यक्तित्व निर्माण किया जाता है और उसी पर राष्ट्र का भविष्य निर्भर करता है। इसलिए गृह-सम्राज्ञी को विश्राम, विलास और आलस्य करने के लिए समय कहाँ है ? अपने गृह-साम्राज्य में तुम स्वयं शासक, सेविका

और परिचारिका हो। निरपेक्ष, नम्र, मेधायुक्त, मधुमयी एवं आत्मीय भावनायुक्त हो सबकी सेवा करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। बड़े के प्रति सम्मान, भक्ति और श्रद्धा, छोटे के प्रति अनुराग, अतिथि के प्रति कोमल, करुणा, पशु-पक्षी के प्रति अहिंसक भावना, वनस्पति के प्रति प्रीतिपूर्ण यत्नशीलता, उपद्रवी के प्रति कल्याणकारी दण्ड एवं मधुसिक्त कड़ाई, मातृभूमि के प्रति राष्ट्रभाव, समाज के प्रति गहरी आस्था, संस्कृति के प्रति ममता, संस्कार के प्रति निष्ठा, विश्व ब्रह्माण्ड के प्रति हितसाधन का संकल्प और इन सबसे पहले पति के प्रति विश्वास और सहयोग तुम्हारे गृहयज्ञ का संकल्प हो। परन्तु जो तुम्हारी इन भावनाओं में तुम्हारे हृदय को पवित्र, मंत्रित और मधुसिक्त करने में सहायक होगा, उस परमात्मा के प्रति पूरी तरह समर्पित होगा तुम्हारे गृहयज्ञ और जीवनयज्ञ का महामन्त्र। उसकी इच्छा के बिना यज्ञ का स्वाहा या सिद्धि, कुछ भी सम्भव नहीं। अतः उसी परमात्मा को ध्यान करके गृहयज्ञ प्रारम्भ करो।"

* * *

अग्न्याध्यान न होने के कारण पिछली रात गौतम मेरे पास नहीं आए, यह जानने के बाद मेरा मान दूर हो गया। गौतम वैदिक विधान तोड़कर रतिसुख में लीन हो गए होते तो शायद उनके प्रति मेरा सम्मान कम हो गया होता। आज वे मेरी दृष्टि में एक आदर्श पुरुष के रूप में विद्यमान हैं। उनकी पत्नी होने का गर्व है मुझे।

सायंकाल में अग्निहोत्र और दुग्धहोम इत्यादि सम्पन्न होने के बाद मैं फिर से गौतम को जीतने की कामना से आत्ममग्न हो गई।

उस दिन वसन्त की गोधूलि लेकर मैंने अपने सर्वांग में पोत ली। मलय की चंचलता को हृदय के प्रत्येक तन्तु में स्वर दे दिया। कोयल की सांध्य कूक की समस्त मधुरिमा को मैंने कण्ठस्वर के एक-एक छन्द में, मधुर रागिनी में बदल दिया। सांध्य कुसुम की उत्तेजक सुरभि से जूड़ा महका लिया। खुले गले में पहन ली झरते बकुल की माला। उस दिन गौतम को लुभाने के लिए मैंने क्या कुछ नहीं किया !

युगों से नारी की देह की सुगन्ध से पुरुषों का तपोभंग हुआ है। तपोभंग करके ऋषि के शाप को वरण कर लेना ही नारी का गौरव है। वही उसकी जीत है। यदि आज मैं गौतम का तपोभंग करके अभिशप्त हुई तो वही मेरे देह-सौन्दर्य की श्रेष्ठता साबित करेगा। यदि मेरे सौन्दर्य और यौवन ने गौतम का तपोभंग नहीं किया, तो फिर मेरे सौन्दर्य और नारीत्व का मूल्य ही क्या ?

आज गौतम भी चित्त-चंचलता अनुभव कर रहे हैं। यह बात व्यक्त करने में आज उन्हें झिझक नहीं है। इसलिए आश्रम की मुनिकुमारियों और ऋषिपत्नियों को संकेत किया है, मुझे विश्वमोहिनी की तरह सजाकर हमारे लिए मधुचन्द्रिका बनाने के लिए।

आज गौतम ने इन्द्र को सोम अर्पित करके स्वयं भी सोमपान किया है। सोम के मोदमय प्रभाव से वे प्रफुल्लित हो उठते हैं रह-रहकर। चन्द्रिका के कोमल स्वर्णलोक में वे उतने वयस्क नहीं लग रहे। वे कामुक, मनोहर, ईप्सित पुरुष लग रहे हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि मेरा दाम्पत्य व्यर्थ नहीं है। गौतम कठोर, संयमी होते हुए भी एक स्वाभाविक पुरुष हैं। अतः मेरा दाम्पत्य जीवन अस्वाभाविकता के शाप से ध्वस्त नहीं होगा, आज यह विश्वास मेरे मन में अंकुरित हुआ है।

तपोवन का वह एकान्त केलिकुंज किसके लिए बनाया गया था ? मैं पहले कभी उस कुंज में नहीं गई। वह गौतम के कुटीर से जुड़े सुन्दर उपवन का एक मनोरम हिस्सा था। ब्रह्मचारियों का वहाँ जाना मना था। इसलिए मेरे लिए भी मना था। आज मैं गौतम-पत्नी हूँ। इस विशेष केलिकुंज में प्रवेश करने का अधिकार मुझे मिल चुका है। इतने दिनों से यह कुंज सम्भवतः मेरे लिए ही बनाते रहे हैं एकाग्रचित्त हो मेरे आदर्श पति गौतम। इसी केलिकुंज में हमारी मधुचन्द्रिका सम्पन्न होगी। एक पवित्र शाखा नदी। घाट नहीं था – बिना घाट के। घाट न हो तो भी संगीत की कल-कल ध्वनि का अभाव नहीं होता नदी जल में। ऋषि आश्रम होने पर भी मालतीकुंज को केलिकुंज बनाने में कोई रोक-टोक नहीं थी। इससे किसी वैदिक विधान का उल्लंघन नहीं होता। पितृऋण चुकाने के लिए पति-पत्नी का मिलन अवश्यम्भावी है।

गौतम आगे-आगे बढ़ते चले जा रहे हैं मालतीकुंज की ओर। उनके पीछे-पीछे मैं। मेरे पैरों में मधुर कम्पन है। आज गौतम आचार्य की तरह गम्भीर नहीं लग रहे थे – किसी प्रेमी की तरह मदविह्वल लग रहे थे।

उन्होंने मुझे लताकुंज में बिठाया। गहरी मधुर दृष्टि से मेरे सर्वांग का अवलोकन किया। धीरे-धीरे वे मेरे निकट आने लगे। मुझे लगा कि मैं लाज से मूर्च्छित हो जाऊँगी। जिन्हें गुरु माना था, उन्हें प्रेमी मानकर कैसे समर्पित कर दूँ अपनी समग्रता ?

मुझे पूरी तरह उत्तेजित करके गौतम सहसा योगमग्न हो गए। योगमुद्रा में भी मेरी ओर खुली आँखों से निहार रहे थे। धीरे-धीरे बोले, "सुभ्रू ! सुनयना-सुकेशी अहल्या ! तुम मधुसेवी बनो, पुष्प की मधुरिमा, स्निग्धता, सुगन्ध, सौम्यता, सुन्दरता, प्रसन्नता और सतेज कोमलता तुम्हारे स्वभाव और आचरण में घुल-मिल जाए, जैसे पानी में मिल जाता है दूध, जैसे मरुत में समा जाता है मलय – आम्रवन की मंजरियों की सुगन्ध, जैसे गोधूलि में समा जाती हैं साँझ की होमशिखाएँ, जैसे दृष्टि में समा जाती है दृष्टि और हृदय में हृदय। अहल्या ! तुम्हारी दृष्टि बने मधुदृष्टि, तुम्हारी वाणी बने मधुवाणी, तुम बनो मधु के समान सारग्राही, सुमिष्ट, सुगन्धित और मधुमती। मधुरता न केवल तुम्हारे रूप का विशेषण बने – तुम्हारा स्वभाव भी बन जाए।"

प्रारम्भ में गौतम की मधुवाणी प्रशंसा की तरह अत्यन्तमधुर लगा करती थी। रोमांच जाग उठता था तन-मन में। किन्तु धीरे-धीरे मधुवाणी गुरुकुल आश्रम की नीतिवाणी-सी लगने लगी – गौतम याज्ञिक की तरह

लक्ष्यबद्ध और योगनिष्ठ लगने लगे। पर वे बार-बार कहा करते, "आओ-आओ अहल्या, मेरा स्पर्श करो, मुझे उन्मत्त करो, मेरा आलिंगन करो, मुझे योगभ्रष्ट करो ..."

गौतम की वाणी, आचरण और हाव-भाव में इतना विरोधाभास दिखाई देता कि बीच-बीच में मैं विचलित हो उठती। लज्जा त्यागकर मैंने गौतम को अपनी बाँहों में भर लिया और उन्हें योगभ्रष्ट करने के लिए उत्तेजित हो उठी। गौतम हेमवन्त पर्वत की तरह अचल, अटल एवं चिर तुषाराछन्नशृंग की तरह हिमशीतल बन गए।

मैं अपनी आकर्षण शक्ति को लेकर दृढ़-निश्चिन्त थी। मैं जानती थी कि 'ध्यान' के आकर्षण से मेरे यौवन का आकर्षण कई गुना अधिक है। जानती थी कि पृथ्वी पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जो मेरे आकर्षण को अनदेखा कर सके। भले ही यह मेरा रूपगर्व हो, पर अपने इस रूपगर्व के लिए मैं स्वयं उत्तरदायी नहीं थी। आज गौतम की योगनिष्ठा मेरे उसी अनादिकाल के अहंकार पर कुठाराघात करती जा रही थी। यदि आज भी गौतम ने योग में बैठना तय किया था तो मुझे उत्तेजित करने का यह खिलवाड़ क्यों किया? क्या वे मेरे समक्ष अपना पौरुष इस तरह प्रमाणित करना चाहते हैं? क्या यह भी मिथ्याचरण नहीं है? क्या यह मुझसे प्रताड़ना नहीं है? गौतम के इस छलपूर्ण आचरण ने मेरे नारीत्व को अपमानित किया था। क्या गौतम मेरी संयमशक्ति की परीक्षा ले रहे थे या अपनी आत्मशक्ति की पराकाष्ठा प्रमाणित करने के लिए उन्होंने मुझे कसौटी मान लिया है?

गौतम के साथ मेरा पाँच वर्षों का घनिष्ठ गुरु-छात्रा सम्बन्ध रहा है। मेरी संयमशक्ति और अपनी आत्मशक्ति परखने के लिए क्या वे स्वयं काफी नहीं है? यदि आज मैं पत्नी के रूप में गौतम से संकेत द्वारा रतिभिक्षा करूँ तो क्या वह मेरे चित्तविकार का परिचय होगा? किन्तु यह बात सच है कि भले ही मैं सचमुच की पत्थर बन जाऊँ, पति से रति की भीख नहीं माँगूँगी। पति भी एक पुरुष ही तो है। क्या नारी कभी पुरुष से रति की भीख माँग सकती है? भले ही वह पुरुष उसका पति ही क्यों न हो। बने रहें गौतम निर्विकार पुरुष। किन्तु पत्नी को सजा-सँवारकर, पूर्वराग की वर्णछटा से उसके देह-मन में रंग बिखेरकर योगाविष्ट हो जाना भला कैसा पौरुष है?

मैं रात भर अन्तर्दाह से जलती रही और गौतम कठिन योगसाधना में लीन रहे। मैं समिध की तरह धधकती रही सारी रात – गौतम याज्ञिक की तरह पुण्य की पूर्णाहुति डालते चले जा रहे थे। इसी तरह बीतती चली जाती मेरी रात्रि प्रति रात्रि।

मैंने सोचा, सम्भवतः यह गौतम का कोई व्रत हो। इसलिए मुझे पाकर भी प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। किन्तु एकाध दिन नहीं – रात-रात भर जब वे मुझे अपने सामने बिठाकर योगाविष्ट होने लगे, मैं समझ गई कि गौतम ने अपनी साधना की सिद्धि के लिए मुझे निमित्त बना रखा है।

प्रतिदिन सुबह जब प्रथा मेरे आहत नारीत्व को ध्यान से देखती, तब वह भी गौतम के आचरण से दुखी हो उठती। पिछले छह महीने से पति-पत्नी के रूप में हम आश्रम का सारा कर्मकाण्ड कर रहे थे, पर अभी तक मैं कुँआरी थी – पति के संग-सुख की अनुभूति अभी तक नहीं हुई थी। प्रथा ने हर रात मुझे बढ़-चढ़कर सजाया था – गौतम के संयम का बाँध तोड़ने के लिए उसने पूर्वराग के समस्त कला-कौशल मुझे सिखाए थे किन्तु सब व्यर्थ चले

गए गौतम के आगे। गौतम दिनों-दिन मेरी आकर्षण-शक्ति से ऊपर उठते चले जा रहे हैं। तो क्या पिताजी के अनुरोध को ठुकरा न पाकर गौतम ने मुझसे नाममात्र के लिए विवाह किया है ? क्या फिर कोई दूसरी नारी है उनके जीवन में ? कौन है वह नारी, जो अहल्या की आकर्षण-शक्ति को छिन्न करके गौतम को अहल्या के सामने हिमशीतल बना देती है ? ऐसे अनेक प्रश्न उठा करते थे मेरे मन में – प्रथा के मन में। काम-ज्वाला से मैं जितना पीड़ित नहीं थी, पीड़ित थी अस्वीकार किए जाने के अपमान से। कामसुख क्या है, मैं नहीं जानती थी। इसलिए उसकी ज्वाला उतनी तीव्र नहीं थी मेरे अन्दर। पराजय की ग्लानि ही मुझे क्षुब्ध करती रहती हर रात।

मेरी प्रतिक्रिया जानने के बाद एक दिन प्रथा ने सीधे-सीधे पूछ ही लिया गौतम से। पूछने का अधिकार है प्रथा को। वह जिससे चाहे, जब चाहे जवाब माँग सकती है। उस दिन गौतम को मालतीकुंज की ओर जाते देख प्रथा ने उन्हें रोका। दृढ़स्वर में बोली, "महर्षि गौतम ! अहल्या का अपराध क्या है ? आप उसे स्वीकार क्यों नहीं कर रहे ? यदि आप उसे पत्नी के रूप में पसन्द नहीं करते हैं, तो फिर आपने विवाह का स्वांग क्यों किया ? आपका उद्देश्य क्या है ?"

"बन्धन-मुक्ति।" गौतम ने उत्तर दिया।

"कैसा बन्धन ? किससे मुक्ति ?" प्रथा ने जिरह की।

"अहल्या का आकर्षण ही सबसे बड़ा बन्धन है। उससे मुक्ति ही मेरी श्रेष्ठ साधना है।"

आश्चर्यचकित प्रथा ने रुष्ट होते हुए प्रश्न किया, "क्या आप अहल्या से मुक्ति चाहते हैं ? तो फिर स्वांग रचाकर उसके जीवन को आपने तापदग्ध क्यों किया ? आप द्वारा उसे मुक्त करने के बाद उसके जीवन में भला और क्या सम्भावनाएँ रह जाएँगी ?"

गौतम ने अविचलित स्वर में कहा, "अहल्या को मुक्ति देने वाला मैं कौन होता हूँ ? मैं तो अपनी ही मुक्ति का द्वार ढूँढ़ रहा हूँ। अहल्या मेरे 'ब्रह्मर्षि' बनने के लक्ष्य-पथ पर प्राचीर-सी खड़ी है। अहल्या का आकर्षण अतिक्रम न किया तो मैं महर्षि से देवर्षि भी नहीं बन पाऊँगा। ब्रह्मर्षि बनना तो दूर की बात है।"

प्रथा क्षुब्ध हुई गौतम की स्पष्टोक्ति से। उसने कहा, "अहल्या का आकर्षण दुर्निवार्य, अलंघ्य, अनतिक्रमणीय है, यह अच्छी तरह जानते हुए भी अहल्या से विवाह करने के पीछे आपका क्या उद्देश्य था – क्या अहल्या को कष्ट देने के लिए ?"

"जानता हूँ कि अहल्या का आकर्षण दुर्निवार्य है, तभी तो मैंने उससे विवाह किया है। अग्नि से दूर रहकर यदि कोई कहे कि वह दहनीय नहीं है तो समझ लेना चाहिए कि वह दहनीय है। अग्नि के बीच रहकर अदहनीय बने रहना ही तो वास्तविक परीक्षा है। अहल्या किसी भी पुरुष के लिए केवल अग्नि नहीं है – बड़वाग्नि है। अतः अहल्या-रूपी बड़वाग्नि के वलय में रहकर मैं कामरूपी शत्रु का दमन करना चाहता हूँ अहल्या मेरी परीक्षा है। उस

परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद ही मेरी साधना की सिद्धि सम्भव है। मेरे ब्रह्मर्षि होने के लक्ष्यपथ पर अहल्या-रूपी अवरुद्धक स्थापित करके गुरुदेव ब्रह्मा मेरी परीक्षा लेना चाहते हैं। मैं अहल्या के पतित्व से मुक्ति नहीं चाहता – मैं कामेच्छा से मुक्ति चाहता हूँ।"

* * *

गौतम ने अब तक मेरी देहसत्ता को स्वीकृति नहीं दी है। कामभोग के लिए शरीर सुख पाप है। अतः पुत्र उत्पत्ति के सही समय की वे प्रतीक्षा कर रहे थे। अब उनकी पुत्र पैदा करने की इच्छा जागी है। इसलिए उन्होंने गर्भभूमि को पुत्र सन्तान उत्पत्ति के योग्य बनाने की ठान ली है। मेरे अन्दर दो कारणों से विद्रोह जाग रहा है। प्रथमतः जननी बनने के लिए मेरी मानसिकता अनुकूल अवस्था में है या नहीं, उन्होंने मुझसे नहीं पूछा। द्वितीयतः मैं पुत्र चाहती हूँ या कन्या चाहती हूँ, उस बारे में उन्होंने मुझसे प्रेमपूर्वक कुछ नहीं पूछा मानो मैं कोई बंजर भूमि हूँ। ओषधि का प्रयोग करके वे मुझे उर्वर बनाएँगे और अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी शस्य उपजाएँगे। किन्तु ये सब मेरे मूक विद्रोह थे। मैं खुलकर किसी भी तरह का विरोध नहीं कर पा रही थी। ऐसा ही था हमारे समय और समाज का चलन। भला कौन राजा, ऋषि, देवता अपनी पत्नी से विचार-विमर्श करके सन्तान उत्पत्ति की योजना बनाते थे, जो मेरे ब्रह्मापुत्री अहल्या होने के कारण गौतम मेरे लिए अलग से नियम बनाएँगे ?

मेरे लिए आश्रम से बाहर जाना मना था, क्योंकि मैं पुत्र सन्तान धारण करने के लिए चिकित्साधीन थी। शमीवृक्ष में बढ़े पीपल के पेड़ के पत्ते और छाल के रस का मुझे नियमित सेवन करना पड़ता था। अत्यन्त बुरा स्वाद होने पर भी मुझे उस रस को पीने के लिए बाध्य किया जाता था। उससे गर्भधारण की शक्ति बढ़ेगी। कुछ दिनों तक छाल और पत्तों का रस पीने के बाद उसी वृक्ष के पंचांग अर्थात् जड़, छाल, पत्ता, फूल और फल को सुखाकर उसके चूर्ण से तैयार किए गए एक मोदक को दूध और शहद में मिलाकर प्रतिदिन दो बार मुझे सेवन कराया जाता था। उस मोदक के सेवन से कन्या सन्तान धारण करने की आशंका दूर होकर पुत्र सन्तान धारण करना निश्चित है, यह आश्वासन प्रथा मुझे दिया करती थी। किन्तु मैं उस समय जननी बनने के लिए बिलकुल तैयार नहीं थी ... और फिर पुत्र या कन्या का भेद मेरे मन में नहीं था। बल्कि गौतम और समाज का कन्या विरोधी विचार मुझे क्षुब्ध करता था। मेरे भीतर विद्रोह पैदा हो रहा था। मैं ईश्वर से प्रार्थना किया करती थी कि गौतम के पुत्र लाभ करने के समस्त उद्यम के बावजूद मैं कन्या सन्तान धारण करूँ। गौतम का विरोध करने की यह एक तरह की दृढ़ भावना मेरे अन्दर उत्पन्न हो रही थी। प्रतिदिन ओषधि का सेवन करते-करते मैं चिड़चिड़ी भी हो गई थी। ऋचा, रुद्राक्ष आदि से अब मेरी मुलाक़ात नहीं होती थी। उनके लिए आश्रम निषिद्ध था और मेरे लिए अरण्य। इसलिए उस दिन की घटना के बाद उनके मनोभाव मेरे प्रति क्या हैं, उस बारे में जानने का कोई उपाय नहीं था। अतः मेरे मन में नाना कारणों से प्रसन्नता नहीं थी।

ऐसी ही एक अप्रसन्न ऋतु में गौतम ने मुझे ग्रहण किया। हाँ, मुझे उन्होंने ग्रहण किया एक तरह से बलात्कार करके। मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे गर्भधारण कराने के उद्देश्य से मेरे साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करने का अर्थ बलात्कार नहीं तो और क्या था ?

जब शुरू-शुरू में गौतम से एकान्त में मिलने के लिए मैं स्वयं को तरह-तरह से सजाया-सँवारा करती थी, तब गौतम मेरे शयन-कक्ष में प्रेमी के रूप में न आकर आया करते थे – कठोर नीति-नियमों से भरे एक रूढ़िवादी समाज के रक्षक के रूप में। अब मुझमें कोई रोमांच नहीं बचा था। मेरी नसों में शीतल अस्वीकृति का हिमरक्त जमने लगा था। गौतम के भस्म पुते बदन और वैराग्यरंजित मुख देखने से मेरी नसों में हिमलहरी फैल जाती – जी करता, सारे बन्धनों और बेड़ियों को तोड़कर उसी क्षण गौतम के स्वामित्व के चंगुल से मुक्त हो जाऊँ। यह घोषणा करूँ कि केवल स्वामी की इच्छा से स्त्री का गर्भधारण करना पाप है ! अवैध है ! किन्तु दुनिया की असंख्य सन्तानें जननी के गर्भ में पति के बलात्कार के कारण आश्रय लेती हैं। विवाह नामक सामाजिक स्वीकृति हो तो बलात्कार से जन्मी सन्तान को अवैध घोषित करने का अधिकार समाज को नहीं है। इसलिए मैं कौन होती हूँ विरोध करनेवाली ?

सोचा था कि पहले गौतम से कुछ प्रेम-सम्भाषण होगा। सम्भवतः गौतम के दो प्रेममय बोल से मेरी देह और मन की सारी बेड़ियाँ टूट जाएँगी। एक-एक करके अनायास ही ... मैं गौतम के पवित्र पौरुष के आगे अपने सुकोमल नारीत्व को स्वतः निछावर कर दूँगी। अपनी सन्तान आगमन के मांगलिक क्षण का पूर्णप्राण से स्वागत करूँगी।

लेकिन 'प्रेम' जैसे लघु आवेग को मेरे सम्मुख प्रकट करने में गौतम के कठोर स्वामित्व का अहंकार बाधक बन गया। वे मुझसे बातचीत करने के बदले मेरी कोख को अभिमन्त्रित कर मन्त्रपाठ करने के तुरन्त बाद मुझसे उग्रभाव से लिपट गए। मैं सहसा दो भागों में बँट गई – अपने तन और अपार्थिव आत्मा में। मेरे तन ने तो जडवत् पति के समस्त उत्पीड़न को चुपचाप सह लिया। किन्तु मेरी सुकोमल प्रेमाकांक्षी आत्मा न जाने किस अदृश्य मधुवन में मेरे जीवन के कल्पित प्रेमी गौतम को ढूँढ़ते हुए आँसू बहा रही थी।

मैं कायमनोवाक्य से स्वयं को पति को अर्पित नहीं कर पाई। क्या यह मेरा पाप है ? मेरी सुहागरात बीत गई परन्तु सुख के स्वाद की अनुभूति नहीं हो पाई। ऐसा अनेक नारियों के भाग्य में होता है। तो फिर मैं तिल का ताड़ क्यों बना रही हूँ ? मुझसे सब कुछ सुनने के बाद मेरी मृदु भर्त्सना करते हुए प्रथा के इतना कहते ही मैं अपने भीतर की अहल्या की भर्त्सना करते हुए अनेक नारियों में से एक हो जाने की चेष्टा करने लगी।

जिस तरह मातृस्तन में अमृतरस अनायास ही भर जाता है, उसी तरह गर्भवती नारी के हृदय में वात्सल्य का अमृत आवेग उद्वेलित हो उठता है। कितना विचित्र होता है नारी मन !

मुझमें गर्भ-संचार हुआ है, जानने के बाद मेरे अन्दर की सारी विरोधी भावनाएँ शान्त पड़ गईं। मेरा हृदय वात्सल्य रस से सुकोमल हो गया। सारा संसार मुझे मधुमय दिखने लगा। सन्तान धारण करने के क्षण का मैंने क्यों दिल खोलकर स्वागत नहीं किया, यह सोचकर मैं स्वयं को धिक्कारने लगी। प्रायश्चित्तस्वरूप अपने पति की तमाम ज्यादतियों को मैं सन्तान के लिए कल्याणकारी मानकर सहर्ष सह गई। भूमि कितनी ही कठोर क्यों न हो, कोई बीज बो देने से उसे अंकुरित करने के लिए स्वयं को विदीर्ण करने में क्या भूमि कभी झिझकती है ?

मैंने भी गर्भधारण के बाद के आचार-विचार, विधि-विधानों को स्वीकार कर लिया। स्वयं को विदीर्ण करने को तैयार हो गई। गर्भधारण के दो महीने बाद बरगद के कोमल पत्तों का रस मुझे नाक से प्रतिदिन सेवन करना पड़ता था। यह मेरे लिए अत्यन्त कष्टदायी होने पर भी समाज द्वारा निर्धारित 'पुंसवन संस्कार' था, जिसे मैं कैसे नहीं मानती ? इससे गर्भ के सन्तान को पुत्र में बदला जा सकता है, यह बात मुझे प्रथा ने समझाई। 'पुत्र' के लिए मेरे मन में कोई विरोध नहीं है परन्तु मैं स्वयं पुत्रवती होना चाहती थी। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल में ऐसी कौन-सी रमणी है जो पुत्रवती नहीं होना चाहती, किन्तु मैं 'कन्यावती' भी होना चाहती थी। इसलिए समाज के कन्या-विरोधी विचारों का मैं विरोध करती हूँ। किन्तु आज मैं पुत्र-प्रसव के लिए तैयार हूँ। यह तो मात्र प्रारम्भ है। दो-तीन पुत्र सन्तान प्राप्त करने के बाद गौतम सन्तुष्ट हो जाएँगे और उसके बाद मैं कन्यावती होने का सौभाग्य प्राप्त करूँगी। यदि उस समय गौतम कन्या सन्तान का विरोध करेंगे तो मैं भी उनका विरोध करूँगी, मैंने मन-ही-मन यह ठान ली थी।

* * *

मैं चुप थी। मैंने स्थिर किया, गौतम की इच्छा से मन्त्रित पुत्रेष्टि महौषधि का सेवन अब मैं नहीं करूँगी। सब छोड़ दूँगी ईश्वर की इच्छा पर। यदि ईश्वर मुझे कन्या प्रदान करेंगे, तो मैं स्वयं को सौभाग्यवती समझूँगी। कन्या प्राप्ति की कामना पर भी अपने गर्भस्थ पुत्र-सन्तान की अवहेलना भला मैं कैसे कर सकती हूँ ?

मैंने जिद में आकर वही किया। गौतम द्वारा दी गई ओषधि का सेवन नहीं किया। मैंने प्रकृति के प्रवाह में स्वयं को मुक्तप्राण से बहा दिया और गौतम के अनजाने सारी ओषधि ग्रहण किए बिना गर्भवती हुई। मेरा यह भेद एक दिन गौतम के समक्ष खुल गया। मेरा गर्भस्थ शिशु पुत्र नहीं कन्या है, यह बात मेरे बाहरी लक्षण से वैद्यगण जान गए। उन्हें आश्चर्य था कि यह कैसे हो गया ? गौतम भी चिन्तित हो उठे। अन्त में प्रथा ने मेरे द्वारा ओषधि वर्जन का भेद गौतमजी के समक्ष खोल दिया। गौतम न केवल क्षुब्ध हुए, बल्कि चिन्तित और सन्दिग्ध भी हो उठे मेरे आचरण से। उन्हें लगा कि उनसे छिपाकर कोई गम्भीर अपराध भी मैं पत्नी के रूप में कर सकती हूँ। उन्हें यह भी लगा कि मेरे अन्दर एक स्वतन्त्र सत्ता है, जो उनकी इच्छा और स्वामित्व को निर्विरोध स्वीकार कर लेने के बदले प्रश्न करने का दुस्साहस भी कर सकती है।

हालाँकि पुरुष-वीर्य में कमी और स्त्री-रज की अधिकता से कन्या-सन्तान का जन्म होता है। वीर्यदानी कहलाना पुरुष का एक अहंकार है। सम्भवतः इसी कारण कन्या सन्तान की प्राप्ति से पुरुष का अहंकार बाधित होता होगा। पुत्र सन्तान में पुरुषवीर्य की अधिकता और स्त्री-रज की कमी होते हुए भी 'पुत्रवती' होकर नारी स्वयं को परम सौभाग्यवती और गौरवमयी कैसे समझ लेती है ?

हाय ! कन्यामुख दर्शन का अवकाश ही नहीं दिया मुझे गौतम ने। मुझे गर्भभंग ओषधि पिला देने के कारण मेरा 'गर्भभंग' हो गया। उस समय मैं समझ नहीं सकी कि जो ओषधि मैं सुखकर प्रसव के नाम पर पी रही

थी, उससे 'गर्भभंग' हो जाएगा। कन्या सन्तान की भनक लगते ही पिता-माता और वेदज्ञ वैद्यगणों द्वारा 'गर्भभंग' कराने जैसा पाप करना विरल है। परन्तु यह भी मेरे ही भाग्य में लिखा था।

ईश्वर की सृष्टिप्रक्रिया के विरुद्ध जाना 'पाप' है। इसलिए मैं कैसे सोच सकती थी कि वेदज्ञ वैद्यगण ऐसा घिनौना पाप करेंगे। जो वस्तु जीवनदान दे, वह ओषधि है। जो जीवन विनाशकारी हो, वह विष है। इसलिए प्रकारान्तर से मेरे प्रति, समाज के एक दण्डधारी प्रतिनिधि ने मुझे विषपान कराया है। मेरे मातृत्व पर हस्तक्षेप किया है। ओषधि है अरुन्धती जबकि गौतम द्वारा प्रदत्त ओषधि (विष) पीने से मेरा शरीर, मन, प्राण, आत्मा एवं एक-एक भाव-कोष रुद्ध होने लगा है। मैं बह जाना चाहती थी ... बँध गई अपने पति की निषेधाज्ञा से। यदि इस बन्धन से मुक्ति सम्भव नहीं – मृत्यु तो सम्भव है! मैं गर्भभंग की शारीरिक और मानसिक पीड़ा के कारण मृत्यु-यंत्रणा से कराहती रही। दिन-प्रतिदिन क्षीण होने लगी। शय्याशायी हो गई। अन्न, जल-स्पर्श नहीं कर पाई। एक अस्पष्ट-सी किलकारी मेरी छाती को लगातार चीरती जा रही थी। मैं अपनी कन्या-सन्तान के हत्यारे अपने पति गौतम को बर्दाश्त नहीं कर पा रही थी। वे केवल मेरे कन्याभ्रूण के हत्यारे ही नहीं, वे मेरे समस्त सुकोमल सपनों के व्याध हैं!

अन्त में मुझे इन्द्रदेव की शरण में जाना पड़ा। यह सच है कि विषाक्त जड़ी-बूटियों के सेवन से मेरा गर्भभंग हो गया, किन्तु गर्भ का भ्रूण पूर्ण अवयव शिशु में परिणत हो जाने के कारण गर्भपात नहीं हो सका। गर्भयंत्रणा से अधीर होने के बावजूद मेरी मृत सन्तान के बाहर आने का कोई लक्षण दिखाई नहीं दे रहा था। रक्तस्राव रुक ही नहीं रहा था। मैं क्रमशः कमजोर हो गई। अब केवल मृत्यु की प्रतीक्षा थी।

पिता ब्रह्मा, भैया नारद और अन्य ऋषि-मुनिगण अविलम्ब आ पहुँचे। गौतम निश्चित रूप से परेशान थे। वे मुझे इस तरह खोने को तैयार नहीं थे। क्योंकि इससे उन्हें सारा जीवन मेरी मृत्यु की ग्लानि भोगनी पड़ेगी। सबने मुझसे कहा कि इन्द्रदेव से प्रार्थना करके अश्विनीकुमारद्वय को मर्त्यलोक बुलवाया जाए। जब दिति का गर्भभंग हुआ था, तब अश्विनीकुमारद्वय ने ही गर्भ के विखण्डित भ्रूण को जीवन प्रदान किया था। उसी के फलस्वरूप सप्त-मरुत जन्मे थे। मेरे मन में भी एक क्षीण आशा का संचार हुआ कि मेरे गर्भस्थ विदीर्ण कन्या भ्रूण की जान बच सकती है और मैं भी एक कन्या के बदले सात कन्याओं की जननी बन सकती हूँ। किन्तु गौतम मेरी जान बचाने के लिए इन्द्रदेव से प्रार्थना करने के प्रति उतने आग्रही नहीं थे। मेरी जान बचाने के साथ-साथ सम्भवतः मेरे गर्भस्थ मृत कन्याभ्रूण की जान भी बच जाने की आशंका थी उन्हें। इसलिए मर्त्यलोक के अनेक प्रख्यात वैद्यों से मेरा गर्भपात कराने की चेष्टा दो दिनों तक चलती रही। जब मेरी हालत अत्यन्त गम्भीर हो गई, तब सबने गौतम को एक तरह से बाध्य कर दिया इन्द्रदेव से प्रार्थना करने को। तब भी गौतम कुण्ठित थे! वे आश्रम के लिए इन्द्रदेव की शरण में जा सकते हैं, किन्तु अपनी पत्नी की जान बचाने के लिए इन्द्रदेव की शरण में जाने से उनका अहंकारी स्वामित्व उन्हें रोक रहा था। मैं मन-ही-मन इन्द्रदेव का ध्यान करने लगी। अपनी कन्या की जान बचाने के लिए अन्तिम शय्या पर लेटे हुए उनसे विनम्र प्रार्थना करने लगी।

मेरी मौन प्रार्थना ... शायद नारद भैया ने मेरी मौन प्रार्थना सुन ली। पलक झपकते ही वे इन्द्रदेव समेत अश्विनीकुमारद्वय को साथ लेकर आश्रम आ पहुँचे। इन्द्रदेव ने गौतम से अनुमति नहीं ली। मैं केवल गौतम पत्नी ही नहीं थी – मैं ब्रह्मापुत्री भी थी। इसलिए इन्द्रदेव ने ब्रह्मा से अनुमति लेकर अश्विनीकुमारद्वय को मेरे गर्भस्थ भ्रूण सहित मेरी जान बचाने का आदेश दिया।

गौतम ने कहा, "अहल्या की जान उसके गर्भस्थ शिशु की जान से अधिक मूल्यवान् है, इसलिए हालात के देखते हुए कन्याभ्रूण को बचाने के प्रयास में समय व्यय न करके अहल्या की जान बचायी जाए।"

गौतम के मन की बात अब किसी से छिपी नहीं थी। इसलिए इन्द्रदेव भी सब कुछ जानते थे। उन्होंने शान्त स्वर में कहा, मैं जानता हूँ कि अहल्या के गर्भस्थ शिशु के पिता तुम हो। इसलिए तुमने जिसका मृत्यु-विधान कर दिया है, भला उसे बचाने वाला मैं कौन होता हूँ, जैसी बात तुम्हारे मन में मेरे कार्य के प्रति विरोधीभाव उत्पन्न कर रही है। किन्तु गौतम ! तुम वेदज्ञ होते हुए भी दूरदर्शी हो। इसलिए सब कुछ जानते हुए भी कभी-कभी अज्ञानियों की तरह काम करते हो। पृथ्वी ओषधि की जन्मदात्री होते हुए भी द्युलोक है ओषधि का पिता या पालक। इसलिए मर्त्यमानव के रूप में तुमने जिस ओषधि का प्रयोग किया है, उसके विषम प्रभाव को काटने का अधिकार द्युलोकपति के रूप में मुझे है। इसके अलावा जान बचाने के लिए किसी से अनुमति लेने की प्रतीक्षा नहीं की जाती। यहाँ तक कि राजा भी प्रजा के जीवन का मनमाना उपयोग नहीं कर सकता। तुम अहल्या के पति भले ही हो, पर उसके जीवन और आत्मा के स्वामी नहीं हो।"

"तो फिर कौन है अहल्या की आत्मा का स्वामी ?" एक सन्दिग्ध स्वगतोक्ति से क्रोधित हो उठे गौतम; किन्तु उन्होंने स्वयं को यथासम्भव संयत करते हुए इन्द्रदेव की बात मान ली।

मेरी जान बच गई, लेकिन मेरी कन्या की जान नहीं बच पाई। चिकित्सा में काफी विलम्ब हो चुका था। विषाक्त ओषधि के विकट प्रभाव से न केवल मेरा गर्भस्थ शिशु नष्ट हो चुका था बल्कि मेरा जरायु (गर्भाशय) भी कमजोर हो गया था।

मैंने एक मृत-सन्तान को जन्म दिया। मेरे जरायु ने सन्तान धारण करने की क्षमता खो दी है, स्वर्ग के वैद्यद्वय यह निष्ठुर घोषणा करके लौट गए। हाँ, सम्भवतः यही था एक जननी के जरायु का विद्रोह। जिस जरायु में मनुष्य के लिए इतने भेद हों, उस जरायु का बंध्या हो जाना ही बेहतर है।

जरायु बंध्या हो जाने से नारी का मन बंध्या नहीं हो जाता। मृतसन्तान को जन्म देने के बाद नारी-वक्ष का अमृत सूख नहीं जाता। मैं मृत सन्तान को जन्म देने के बाद दुःख से उदास रहने लगी थी – किन्तु मेरे वक्ष का अमृत-निर्झर सूखा नहीं था। अमृत-निर्झर भी विष जैसा काम करता है, यदि वह स्वार्थ की सीमा में बँधा रहे। यदि अमृत देवताओं के बीच सीमाबद्ध होकर न रहता, तो देवासुर संग्राम नहीं होता और न ही युग-युगान्तर तक आर्य-दास वर्ण विद्वेष से मानव जाति अथाह दुःखों से पीड़ित रहती।

मेरी छाती का अमृत मेरी सन्तान के लिए सीमाबद्ध था। इसलिए मृत वत्सा हो मेरा वक्षामृत विषवत् मुझे यंत्रणा से बेचैन कर रहा था। यह मेरे मातृत्व का एक और विद्रोह था। मैं लगभग ज्वरग्रस्त रहने लगी।

प्रथा ने कहा, "घबराओ मत, ओषधि के प्रयोग से वक्ष का अमृत सुखाया जा सकता है।"

मैंने दृढ़तापूर्वक विरोध किया था, "गौतम द्वारा दी गई ओषधि मेरे शरीर में विषवत् कार्य करती है। इसलिए ओषधि सेवन करने की आवश्यकता नहीं। भले ही मृत्युवरण करूँगी, पर वक्ष से अमृत झरने का विरोध नहीं करूँगी।"

मेरे शरीर में प्रसूति-दोष के रोग-जीवाणु प्रवेश कर गए थे। मैं सूतिका रोग भोग रही थी। मुझे पिंग पेड़ के पत्तों और छाल का धुआँ सेवन करना पड़ता था। वह मेरे लिए अत्यन्त घुटन भरा था। फिर भी मेरे रोग के ठीक होने के लक्षण दिखाई नहीं दे रहे थे। वास्तव में मैं सूतिका-कक्ष में एक तरह से बँधकर रह गई थी। मेरे कक्ष में सूर्य का प्रकाश प्रचुर मात्रा में नहीं पड़ता था। स्वर्गराज्य से भैया नारद अश्विनीकुमारद्वय की सलाह लेकर आए थे। खुले स्थान पर पिंगलवर्ण का सूर्यकिरण मेरे शरीर पर पर्याप्त मात्रा में पड़ने से मैं रोगमुक्त हो जाऊँगी ऐसा उनका निर्देश था।

गौतम इसके लिए मना नहीं कर सके। सुबह-सुबह आश्रम से बाहर जाकर पिंघलवर्णी सूर्यालोक पड़नेवाले खुले स्थान में भ्रमण करने की अनुमति मुझे मिल गई। प्रथा हमेशा मेरे साथ पहरेदार-सी रहा करती। धीरे-धीरे मुझमें शक्ति लौटने लगी। परन्तु प्रातःकालीन पक्षियों की चहचहाहट सुनते ही मेरा वक्षवास अमृतधारा से भीग जाता था और मैं मृतवत्सा होने के कारण अपने भाग्य को कोसने लगती।

* * *

इस बीच मेरे शरीर का सौन्दर्य सौ गुना बढ़ गया था। इस बारे में आश्रमवासी नारियाँ और ब्रह्मचारीगण आपस में चर्चा करते थे। विवाह के समय भी मैं थी अर्धप्रस्फुटित एक कली-किशोरी। तब मेरे सौन्दर्य की आभा पूरी तरह फैली नहीं थी। विवाह के दस वर्षों के बीच मैं पूर्णयौवना युवती में बदल चुकी हूँ। मेरे शरीर की कान्ति, आँखों की द्युति, केशों की नीलाभ सघनता और देह-सौष्ठव पूर्ण विकसित हो सबको मुग्ध-चकित कर रहे थे। गौतम मेरे सामने बहुत मुरझाए-मुरझाए से दिख रहे थे। कोई-कोई आश्रमवासिनी हम दोनों को देखकर अफसोस प्रकट करतीं – 'हाय, ऐसे नारी-रत्न के लिए गौतम जैसे वयस्क, नीरस और सौन्दर्यहीन पति ! यह कैसा विधान है विधाता का ? कैसा निर्णय है ब्रह्माजी का !' ऐसी बातों को भला कौन रोकेगा ? पेड़-पौधों का मर्मर और पशु-पक्षियों की नयन-छटा भी तो यही कह रही है। गौतम के कानों में भी ये बातें पड़ी हैं। तो क्या उनमें हीनभावना पैदा हुई है ? क्या इसीलिए वे स्वयं को मुझसे हर बात में श्रेष्ठ प्रमाणित करने के लिए मेरे प्रति क्रोधित और कठोर होने लगे हैं ? हालाँकि गौतम के मन में हीनभावना पैदा होने का एक और तर्कसंगत कारण भी है।

इन दस वर्षों में गौतम मुझसे उम्र में जितने बड़े थे, उतने ही बड़े हैं, किन्तु लम्बाई में मैं उनसे पाँच अँगुली बढ़ गई हूँ। वे मुझसे छोटे लग रहे हैं। अधिकांश महर्षियों की पत्नियाँ लम्बाई में बड़ी होने के उदाहरण हैं। उसका कारण स्पष्ट है। पूर्णावयव महर्षिगण परिपक्व आयु में बालिका-वधू से विवाह करते समय यह नहीं सोचते कि बालिका-वधू का शरीर पूर्ण विकसित होने पर सम्भवतः वे उनके समक्ष छोटे पड़ जाएँगे। गौतम लम्बे नहीं हैं इसलिए मैं पूर्ण यौवन प्राप्त करने पर गौतम से लम्बी हो गई। गौतम को मेरे साथ खड़े होने में अटपटा लगता था। सम्भवतः अपने रूप और अवयव से मेरे सौन्दर्य और आकृति की तुलना करके हीनभावना के शिकार हो जाते थे। मैंने ग़ौर किया है कि किसी दीर्घकाय, बलवान् एवं सुदर्शन पुरुष के साथ मुझे बातें करते हुए देखना गौतम बिलकुल सहन नहीं कर पाते थे। नाहक़ ही क्षुब्ध हो उठते हैं। मुझसे रूखा व्यवहार करते हैं। क्या सभी पुरुषों में ऐसी भावना उत्पन्न होती होगी? पति को पत्नी से हर चीज में श्रेष्ठ होना विधेय है, यहाँ तक कि ऊँचाई में भी!

* * *

गौतम ने मुझसे आदेशसूचक गम्भीर स्वर में कहा, "इन्द्रदेव पहुँचने ही वाले हैं। वे हमारे परम अतिथि हैं। अतिथि देवता होते हैं। अतिथि की सेवा के लिए निष्ठा हो तो अस्वस्थता क्या मृत्यु को भी रोका जा सकता है। तुम्हारे अन्दर संकल्प का अभाव देख मैं अत्यन्त मर्माहत हुआ। उठो, और मेरी पत्नी के रूप में अतिथि सत्कार का समस्त प्रबन्ध करो ताकि इन्द्रदेव किसी कारण से असन्तुष्ट न हो जाएँ। उनके असन्तुष्ट होने से न केवल मेरी या आश्रम की क्षति होगी – आर्य भूखण्ड की भी प्रचुर क्षति होगी। ऐसा हुआ तो मेरे ही यश की हानि होगी। गौतम आश्रम की प्रसिद्धि बाधित होगी। इसके लिए आरोप तुम्हीं पर लगेगा।"

गौतम के आदेश के बाद अब विरोध करने का प्रश्न ही नहीं था। वास्तव में आचार्य पत्नी का कर्त्तव्य मुझे ही निभाना पड़ेगा। इन्द्रदेव प्रसन्न हुए तो पंचनदी की जल सम्पदा में ज्वार उठेगा। गौतम आश्रम समेत यह समूचा भूखण्ड भूख और अकाल से बच जाएगा। उसके बाद गौतम निश्चिन्त और निष्काम होकर तपस्या करेंगे – देवर्षि या फिर इन्द्रपद प्राप्त करने के लिए। पति की पदोन्नति में पत्नी को ही बलि चढ़ना पड़ता है।

गौतम का निर्देश मानकर मैं अभिमान और क्रोध त्यागकर उठी और इन्द्रदेव के आतिथ्य के प्रबन्ध में जुट गई।

किन्तु आज मैं अतिथि सेवा करने से झिझक रही थी, यह बात आश्रम में किसी से छिपी नहीं रही। मैं पति की इच्छाओं का विरोध कर रही हूँ एवं पति के साधना-पथ पर बाधक हो सकती हूँ, इन बातों पर चर्चाएँ होने लगीं। गौतम के पतित्व का अहंकार इससे बाधित होना स्वाभाविक था। पत्नी की भला कैसी अलग इच्छा और अलग विचार। पति की इच्छा से पत्नी नरक तक में कूद सकती है। कहते हैं, पति की सहायता से ही वह नरकलोक से स्वर्गलोक में जाती है, इसलिए स्वर्गप्राप्ति के लिए पत्नी को तपस्या या साधना करने की आवश्यकता नहीं। ऐसी चर्चाओं से मुझे सुख नहीं मिलता था। मेरे भीतर की स्वतन्त्र आत्मसत्ता उसका चुपचाप विरोध करके लहूलुहान होने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती थी। सोचा, क्या सचमुच एक न एक दिन पति के यश-लाभ

और पदोन्नति के पथ पर मुझे असहाय हो नरकलोक में छलाँग लगानी होगी ? इसमें क्षति ही क्या है ? उसी पुण्य के बल पर क्या मुझे पुनः स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त नहीं होंगे ? नहीं – सम्भवतः मैं नरकवास को ही श्रेय समझूँगी । नरक में ही सही, कम-से-कम अपनी इच्छा से कोई-न-कोई दण्ड भोगने का अवसर तो मिलेगा । सम्भवतः मेरी आत्मसत्ता का रक्तस्राव उसी से रुक जाए ।

मैंने पति की इच्छा और उनके सिद्धि मार्ग पर स्वयं को स्वाहा कर डालने की प्रतिज्ञा की । इसके सिवाय कोई और गति नहीं थी । मैं तो गौतम द्वारा मेरे हाथ में बाँधे गए कुशतृण के वलय में क़ैद थी ।

किन्तु इन्द्रदेव नहीं आए । आश्रम के लोगों ने बड़ी उत्कण्ठा के साथ प्रतीक्षा की थी । ऐसा नहीं था कि मुझमें भी उत्कण्ठा नहीं थी । सभी निराश हुए । गौतम की निराशा में आशंका, सन्देह और मेरे प्रति क्रोध एवं खीज साफ़ झलक रही थी ।

उस दिन सांध्यहोम से पहले पति के पैर धोने के लिए अंजलि में जल भरते ही उसमें इन्द्रदेव का प्रतिबिम्ब देखकर मैं चौंक उठी । छाती की तेज धड़कन से अंजलि खुल गई । जल नीचे गिर गया । पति के पैर अनधुले रह गए । क्या यह मेरे मन का भ्रम था ?

* * *

उठो अहल्या ! इन्द्रदेव को भिक्षा प्रदान करने की घड़ी आ गई । इन्द्र समस्त ऐश्वर्य के अधिकारी होते हुए भी तुम्हारी श्रद्धा प्राप्त करने के लिए तुम्हारे द्वार पर भिक्षाथाल लिए खड़े हैं । हे अहल्या ! स्वार्थ को स्वाहा करके पृथ्वी को इन्द्र के अभिशाप से बचा लो । पृथ्वी माता तुमसे महान् बलिदान माँग रही हैं । देवी अहल्या ! आहुति की पुण्य घड़ी प्रमादवश टल गई तो स्वाहा के लिए तुम्हें दुबारा महार्घ लग्न नहीं मिलेगा । पृथ्वीमाता की भूख के लिए तुम जन्म-जन्मान्तर ज़िम्मेदार रहोगी । स्वयं को बलि चढ़ाने से पहले भोग-भावना छोड़कर त्याग-भावना से उद्‌बुद्ध होओ । हे अहल्या ! अहंकार ही पृथ्वी पर अकाल पैदा करने वाला शत्रु है । इन्द्रदेव, गौतम और तुम स्वयं अपने-अपने अहंकार को लेकर एक-दूसरे से कटे हुए हो । जब तक तुम लोग एक-दूसरे से नहीं जुड़ते, तब तक सोमयाग की पूर्णाहुति सम्भव नहीं ।

शैल, सरिता और सिन्धु । कोई एक-दूसरे से अलग रहकर सार्थक नहीं होता । सबकी महिमा और महत्त्व समान है । सिर्फ़ रूप अलग-अलग हैं । शैल ऊँचाई के कारण महान् है – सरिता महान् है अपने लम्बे प्रवाह के कारण और सिन्धु महान् है अपनी अकल्पनीय गहराई के कारण । ऊँचाई, व्याप्ति और गहराई, इनमें से कौन मुख्य है, कौन गौण ? तीनों अपने-अपने गुणों और स्थानों में गरिमामय हैं । तीनों एक-दूसरे से जुड़ने पर ही शैल बन जाता है जलकल्प, नदी बन जाती है चिरस्रोता, सिन्धु बन जाता है सरितापति अनन्त जलाधार । अतः आज पृथ्वी को प्रलय से बचाने के लिए निरभिमान हो एक-दूसरे से जुड़ जाओ । हे अहल्या ! तुम्हारे द्वार पर अतिथि इन्द्रदेव पधार चुके हैं । उठो ! भिक्षा की घड़ी आ गई है, प्रतिश्रुति पूर्ण करने की घड़ी आ गई है ।

शैल शिखर से सरिता की धारा में बहते-बहते मैं सिन्धुतट तक पहुँच गई। मेरे सामने अनन्त अमृत भावसिन्धु है। सारी शून्यता दूर हो गई मेरी छाती से। सारे घाव सूख चुके हैं। समुद्र मुझे पूर्णता का पथ दिखा रहा है। समुद्र जैसा पूर्ण कौन है ? भीतर, बाहर, तट, क्षितिज – सब पूर्ण हैं, भरे हुए हैं।

समुद्र की छाती में गहरा दुःख उत्पन्न होने पर वहाँ भाव-तरंगें सिर उठाकर अपना प्रभाव दिखाती हैं। फिर से समतल हो जाती है समुद्र की छाती, मिट जाती है शून्यता की गहराई। फिर वहाँ तरंगें नहीं बची रहतीं, न ही बची रहती है गहराई।

हर जगह असीम निःस्पृहता है। हर जगह अखण्ड निर्लिप्त भाव है। आकाश और पृथ्वी पर समुद्र का आलिंगित छन्द है। कौन है दाता ? समुद्र, आकाश या पृथ्वी ? पूर्वाह्न आकाश जब समुद्र की छाती में उड़ेलता है असंख्य हीरे के टुकड़े, समुद्र उन्हें अपने विशाल अतल खजाने में सहेजकर रख सकता है अपनी सम्पत्ति बनाकर। लेकिन वह उन हीरों के टुकड़ों को नीले फेनिल धागे में पिरोकर दिगन्त व्यापी हार में गूँथकर पृथ्वी की छाती में पहना देता है प्रीति के गुरुगम्भीर सम्भाषण से। पृथ्वी वह अपार्थिव हीरे का हार गले में पहने हुए हमेशा सम्भ्रान्त मुद्रा में मुस्करा सकती है। किन्तु हीरे का वह फेनिल हार पृथ्वी की छाती का स्पर्श करते ही क्यों उसकी पलकें भीग आती हैं ? कौन-सी अनकही अपूर्णता है पृथ्वी की ? कितना निर्लोभ निःस्पृह है पृथ्वी का मन !

पृथ्वी अपनी गीली छाती पर स्मृतियों के कुछेक घोंघे स्वीकार करके हीरे का हार सादर लौटा देती है समुद्र के विस्तीर्ण छाती को। किन्तु समुद्र तो दाता है। वह भला किसी की कहाँ सुनता है ? निरन्तर 'देने' की साधना से उमड़ती रहती हैं उसकी लहरें। पृथ्वी, समुद्र, आकाश का सम्बन्ध सिर्फ़ 'प्रीति लो – प्रीति लो' के मन्त्र से गूँजता रहता है।

दूर समुद्र के सीने में कुछ छोटी-छोटी ख़ाली नौकाएँ लहरों पर अठखेलियाँ कर रही हैं। नीले आकाश में काले-काले पक्षियों की तरह ख़ाली नौकाएँ स्वच्छन्द हो खुले मन से, आनन्द से अठखेलियाँ कर रही हैं। चिन्ता, फिक्र, भय – कुछ नहीं है। उन्हें देखनेवाली आँखें कितनी भाग्यवान् हैं !

नौकाएँ मेरे हाथ की पहुँच में लौटकर आ रही हैं। कुछ ख़ाली नौकाएँ बन जाती हैं ख़ाली पेट। चारों ओर सुनाई दे रहा है भूख का आर्त्तनाद।

सपना टूट गया। द्वार पर किसी की मृदु मधुर दस्तक सुनाई दे रही है। नींद से अलसायी देह किसी का सान्निध्य ढूँढ़ रही है। गौतम कहाँ चले गए ? क्या इतनी जल्दी प्रातःस्नान के लिए निकल गए ? द्वार पर अतिथि खड़े हैं। सपने का स्वर सत्य का संगीत बनकर मुझे अधीर कर रहा है–

बलिदान की घड़ी आ पहुँची। मैं कौन हूँ ? मैं ऊसर, वर्षातुर पृथ्वी हूँ ! मैं प्रतीक्षिता अहल्या हूँ – मैं स्पर्शरहित अहल्या हूँ ...

मेरे पैरों में, हाथों में, स्वप्न और अभीप्सा की सख़्त बेड़ियाँ पड़ी हैं। बाहर ताला बन्द है। गौतम चाबी लेकर नदी गए हैं। बन्द द्वार के उस ओर खड़े हैं परम अतिथि इन्द्रदेव। अपमान जर्जरित मैं अहल्या। परम विद्रोही मैं अहल्या। अतिथि के सम्मुख मेरे प्रति पति के अविश्वास का प्रमाणपत्र लटक रहा है। कहाँ से आ गई इतनी शक्ति – इतना दुस्साहस मुझमें ! मेरी एक ही गर्म साँस से टूट गया अनादिकाल से बन्द कारागृह।

खुल गया कुटी का द्वार। द्वार पर खड़े हैं परम मनोहर, परम काम्य, परमप्रिय अतिथि – देवता इन्द्रदेव। मेरी देह के एक-एक भावकोष में उनकी कान्ति झलक रही है।

यदि चाँद ढूँढ़ते-ढूँढ़ते आकाश मिल जाए, पृथ्वी की मुट्ठीभर मिट्टी माँगने पर मिल जाए विश्व-ब्रह्माण्ड, मनुष्य ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मिल जाएँ ईश्वर, एक भीगा जलकण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मिल जाए रत्न-भरा सागर, जीवन ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मिल जाए अमरत्व, एक नितान्त निजी क्षण ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मुट्ठी में समा जाए महाकाल, तो कैसी होगी मनुष्य की मनःस्थिति ? मेरी स्थिति का वर्णन करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं थे। मैंने तो चाही थी अपने पति गौतम की यज्ञसिद्धि – मैंने चाही थी प्यासी पृथ्वी के लिए वर्षा की भीख, मैंने चाहा था अहल्या – पृथ्वी के लिए अन्न-कण – परन्तु इस सबके दाता इन्द्रदेव यदि स्वयं ही मुझे मिल गए हों तो मेरी स्थिति क्या हुई होगी?

मैंने कहा – "प्रियतम प्रभु ! वरदान देने की घड़ी आ गई। इस पृथ्वी को बचा लें। मैं भिक्षाप्रार्थी हूँ !"

"अहल्या ! प्रार्थी कभी भीख नहीं माँगता। बिना दान के वह प्रतिदान नहीं माँगता। आज मैं भी प्रार्थी हूँ। वरदान दो देवि ! अपना दिया हुआ वचन पूरा करो। जीवन में मैंने कभी किसी से प्रार्थना नहीं की। कभी किसी से कुछ ग्रहण नहीं किया। केवल दाता का जीवन भोगा है। दाता का दुःख मेरे सिवा और कौन जान सकता है ? दाता को भी अभाव होता है, वह भी अपूर्ण होता है। उसी अपूर्णता के कारण आज मैं तुम्हारे द्वार पर पर खड़ा हूँ। मुझे पूर्ण करो देवि !"

मेरी चेतना में गौतम दुन्दुभित हुए। मैंने स्वप्न देखने-सा मन ही मन बुदबुदाया, "जगत् मिथ्या, ब्रह्म सत्य।"

"यह नितान्त सच है अहल्या, किन्तु यह मिथ्या जगत् ही सत्य के लिए सिद्धिलोक है। इस मिथ्याजगत् में ही इच्छाएँ पूरी होती हैं। स्वर्गलोक में इच्छाएँ होती ही कहाँ हैं ! मिथ्याजगत् के सिवा तप करने का अवसर और किसी लोक में नहीं है। त्याग यहीं किया जाता है। मिथ्याजगत् की मधुर भ्रान्तियाँ ही ब्रह्मसत्य की उपलब्धि कराती हैं। आओ अहल्या ! तुमने तो मुझे प्रतिश्रुति दी है।"

मेरी अपूर्ण, अनुर्वरक और शुष्क इच्छाओं की प्रतिश्रुति ने मुझे लाचार कर दिया। चरम त्याग के उस महान् क्षण में तर्क, वितर्क और वार्तालाप के लिए अवकाश नहीं रह जाता।

शय्या के निकट खड़ी थी मैं। मेरे केश खुले थे। शरीर में अंगराग नहीं थे – मैं निरावरण थी। मैं गौतम पत्नी अहल्या थी।

"क्या वरदान चाहिए प्रभु ?"

मैं हाथ जोड़े खड़ी थी। अपने मनोरम हाथ बढ़ाकर उन्होंने मेरी हथेली को स्पर्श किया। स्पर्श के अहसास से जड़ में भी जान आ जाती है। यह कैसा मधुकम्पन होने लगा मेरे भीतर ? अननुभूत सुख ढूँढ़ते-ढूँढ़ते मानो मैं परमानन्द प्राप्त करने जा रही थी। अपने हाथ का स्पर्श देने से अधिक भला मैं और क्या कह सकती थी ? एक स्पर्श में ही अथाह शक्ति होती है ? मेरा लौहबन्धन तार-तार हो गया स्पर्श की शक्ति से। स्वयं को धीरे-धीरे हविः बना डालने के पथ पर पृथ्वी की कोई भी शक्ति बाधा नहीं बनी।

महाकाल के वक्ष पर वे अभिलाषापूर्व घड़ियाँ थीं निःशर्त। वहाँ लाभ-हानि, यश-अपयश, अतीत-भविष्य, स्वर्ग-नरक, वरदान-अभिशाप का द्वन्द्व नहीं था, जबकि प्रतिश्रुति, वरदान और प्रतिदान की कठोर शय्या पर पैर रखकर उतर आयी थीं वे घड़ियाँ देह से मनोभूमि में।

मुझे यही अनुभूति हुई कि सारी सीमाएँ अनुशासित होते हुए भी मेरे भीतर ऐसा कोई था, जिसने मुझे अगम्य स्थान की ओर उड़ जाने को प्रेरित किया। उस शक्ति ने सारे बन्धन और बेड़ियाँ तोड़ डालीं। बेड़ियाँ तोड़ना मनुष्य का सहज स्वभाव है। रिश्ते जब बेड़ियाँ बन जाती हैं तभी वे रिश्ते टूटते हैं, बन्धन टूटते हैं। बन्धन टूटने की घड़ियाँ बड़ी दुर्वार होती हैं, प्रमत्त होती हैं। बन्धन टूटने के विषाद और मुक्ति के उद्‌घोष एवं विषाद-प्रफुल्लित भावावेग से वे घड़ियाँ थीं मधुर पीड़ादायी।

तत्त्व और ज्ञान उस भावावेग के उच्छ्वास से निर्वासित हैं। दुविधा, द्वन्द्व, विचार उस घड़ी निर्वेद हैं। वह घड़ी, निष्कपट समर्पण की घड़ी है। स्वयं को दूसरे के लिए उड़ेल देने की घड़ी। वह घड़ी थी प्रेम की घड़ी, जिस प्रेम में दूसरा पक्ष नहीं होता। लेन-देन का हिसाब नहीं होता। उस घड़ी का आकर्षण इतना दुर्दम्य होता है कि वहाँ पाप-पुण्य, नीति-नियम अन्धे और बहरे हो जाते हैं।

उस घड़ी मेरे भीतर छल-कपट नहीं था। वह घड़ी निष्कपट, विशुद्ध प्रेम की घड़ी थी। उस समय मैं विभाजित नहीं थी। पूरी की पूरी इन्द्र की थी। वह घड़ी भ्रान्ति की घड़ी नहीं थी – क्रान्ति की घड़ी थी। उस घड़ी ने प्रलय को स्तब्ध कर दिया था।

मैं नहीं जानती, प्रेम की वह घड़ी इन्द्र के लिए निःशर्त और निष्कपट थी या नहीं। किन्तु नारी के लिए प्रेम निःशर्त होता है। देहभोग की वासना उस प्रेम की शर्त नहीं होती किन्तु क्या पुरुष के लिए देहभोग प्रेम की शर्त है ? अतः प्रेम की उपलब्धि से इन्द्र की अपूर्णता पूर्ण हुई या नहीं, मैं नहीं जानती। किन्तु मैं पूर्ण, परिपूर्ण हो गई थी।

मैं इन्द्रलुब्धा नहीं थी – मैं थी इन्द्रमुग्धा। मैं इन्द्र से होकर उत्तरण के सोपानों पर चढ़ती जा रही थी पृथ्वी से पृथ्वी की अतल में, आकाश से होते हुए आकाश से भी ऊँचा। इन्द्रिय आनन्द से इन्द्रानन्द में – परमानन्द की उपलब्धि में। इन्द्रानन्द सोमरस पान की तरह अपार्थिव है।

आत्ममुक्ति या जगत् की मुक्ति ? इस प्रश्न का उत्तर इन्द्र पा चुके थे। आत्म-मुक्ति के मार्ग पर इन्द्र सदा बाधा उत्पन्न करते हैं। क्या गौतम के यज्ञ का लक्ष्य आत्ममुक्ति था ? अपरिपक्व ज्ञान, साधना, उम्र और अनुभूति के बिना उत्तरण, मुक्ति और अमरत्व की कामना करना विडम्बना है। देवतागण मनुष्य की इस बुरी आकांक्षा का विरोध करते हैं। सम्भवतः इसीलिए इन्द्र ने गौतम का विरोध किया और मुझे प्रदान की सत्य की अन्तरंग अनुभूतियाँ।

स्वाहा है यज्ञ की आत्मा। यज्ञ के मन्त्र का अन्तिम और श्रेष्ठभाग है स्वाहा। सु-आहुति स्वाहा का श्रेष्ठ गुण है। मैंने इन्द्रदेव के लिए स्वयं को स्वाहा कर दिया।

मेरी मिथ्या देह है सत्य की सिद्धिभूमि। मैं थी कन्या, पत्नी, गृहिणी, किन्तु मैं 'नारी' नहीं बन पाई थी। इन्द्र के स्पर्श से मैं 'नारी' बन गई। मैं पूर्ण हो गई। पूर्ण से पूर्ण निकालने की शक्ति भला किसमें है ? यदि किसी में हुई तो पूर्ण से पूर्ण निकल जाने पर भी मैं पूर्ण ही रहूँगी।

"हे इन्द्रदेव ! मैं कृतज्ञ हूँ। आपने मुझे पूर्णता का अहसास कराया। आपने मेरे जड़ बन चुके नारीत्व में फिर से प्राण फूँक दिए।"

मैंने इन्द्रदेव को प्रणाम किया। प्रभात हो चला था। क्या पक्षियों ने रात के महाप्रलय का सामना नहीं किया ? उनके कलरव में कहीं कोई अस्वाभाविकता नहीं थी। इन्द्रदेव प्रस्थान करने को उतावले थे। विदा की घड़ी आ गई। इन्द्रदेव निर्लिप्त-निराकार थे। किन्तु वे तृप्त थे, यह स्वीकारने में उनमें कोई झिझक नहीं थी।

"अहल्या, मैं तृप्त हुआ। तुम्हारा दान अतुलनीय है। प्रेम की चिर-आराध्या देवी बनकर तुम मेरी अन्तरवेदी में सदैव पूजी जाओगी। आज के इस देह-संगम की स्मृतियाँ, तुम्हारी देह की सारी सुरभित सुगन्ध मेरी देह की समस्त ग्रन्थियों में सदा भाव-तरंग बनाते रहेंगे। तुम्हारे पति के पदचाप सुनाई देने लगे हैं। मैं तुम्हारा मुक्तिदाता नहीं – मैं तुम्हारा भाग्य और नियति नहीं। मैं तुम्हारी परीक्षा भी नहीं। तुम स्वयं ही अपनी परीक्षा, भाग्य और नियति हो। साधना का द्वार अब तुम्हारे लिए खुल चुका है। मुझे विदा दो और अपनी रक्षा करो।"

इन्द्र के विदा होते समय मुझे ठेस नहीं पहुँच रही थी – क्योंकि मैं जानती थी, मैं मर्त्य की नारी हूँ। इन्द्र मेरे भाग्यविधाता नहीं बन सकते। यह विदाई तय थी। किन्तु मुझे ऐसी अवस्था में छोड़कर, गौतम के पहुँचने से पहले किसी लम्पट पुरुष की तरह जल्दी-जल्दी वहाँ से भागने लगना मुझे बहुत कष्ट दे रहा था। तो क्या इन्द्रदेव भाव के सम्राट् नहीं हैं – क्या वे भोग-लम्पट हैं, एक सामान्य पुरुष ? क्या मेरे क्षणभंगुर सुन्दर देहभूमि पर विजय पताका फहराकर गौतम को नीचा दिखाना था इस प्रेम का लक्ष्य ? तब तो यह प्रेम नहीं था, एक भ्रान्ति थी। क्या मैं

इन्द्रयोग्या नहीं थी, इन्द्रभोग्या थी ? यह सोचकर दुःख और आत्मग्लानि से उदास हो उठी । इन्द्र ने गर्व के साथ गौतम का सामना किया होता तो मैं इन्द्र को परम प्रेम के स्थान पर रखकर बाक़ी का जीवन पूर्णता से रँग लेती । प्रेम निर्भीक होता है, प्रेम निरहंकार होता है, प्रेम निःस्वार्थ होता है । जबकि एक कामुक पुरुष की तरह अपने स्वार्थ को बड़ा करके ऋषि के कोप के भय से मुझे असहाय अवस्था में छोड़ कर वहाँ से खिसक लेने के कारण मेरे सच्चे अहसास पर एक काली रेखा खींच दी उन्होंने । यह प्रेम है या भ्रम, पाप है या पुण्य ? उचित है या अनुचित ?

किन्तु मैंने जो कुछ किया, जान-बूझकर किया । जब आत्मा प्रेम के लिए समर्पित हो जाती है, तब देह अपनी सत्ता खो देती है और आत्मा के साथ देह भी समर्पित हो जाती है । इसलिए उस क्षण मुझमें ग्लानि या पापबोध नहीं हुआ । मिलन के सुख और विरह के दुःख दोनों से आज मेरा नारीत्व परिपूर्ण था ।

मनुष्य एकान्त में ही पाप-कर्म करता है । परन्तु एकान्त होता कहाँ है ? अन्तर्यामी विश्वकर्त्ता तो विश्व में सर्वत्र विद्यमान हैं । हम जाग्रत् न हों तो भी वे हमारे अन्दर सदा जाग्रत् रहते हैं, हमारे अन्दर का संकल्प-विकल्प वे जानते हैं । पाप-कर्म के घटित होने के पहले से लेकर पाप-कर्म होने की घड़ी तक एवं उसके बाद भी वे वहाँ रहकर सारा कुछ देखते रहते हैं । अपना पाप मनुष्य स्वयं भी नहीं देख सकता – पाप करते समय वह अन्धा हो जाता है । लेकिन मनुष्य का पाप-कर्म सर्वद्रष्टा विश्वनियन्ता को दिखाई देता है । पापी के गोपनीय स्थान पर पहुँचने से पहले ही सर्वव्यापी प्रभु वहाँ पहुँच चुके होते है ।

मनुष्य के एकाकी रहकर कोई कार्य करते समय प्रभु द्वितीय बनकर उसके पास होते हैं । दो लोग पाप-कर्म में लिप्त होने पर वे तृतीय बनकर रहते हैं । यह न जानकर मनुष्य पाप-कर्म करता है, किसी के पहुँचने से पहले ही वहाँ से खिसक लेने की चेष्टा करता है । इसलिए जब इन्द्रदेव गौतम के आने की आहट सुनकर भय से खिसक लेने की सोच रहे थे, मैं जान गई थी कि पाप नहीं छुपेगा । हम दोनों के बीच जो भी कुछ घटित हुआ, उसे मैंने 'पाप' के रूप में स्वीकार न किया होता, यदि इन्द्रदेव मेरी आँखों को 'पापी' की तरह न दिखे होते । कहाँ चला गया इन्द्रदेव का वीरत्व, साहस, तेज, निर्भीकता, श्री और सौन्दर्य ? वे गौतम को अपने सामने देखकर निष्प्रभ और बलहीन क्यों हो गए ? उनका चिर-उन्नत मस्तक झुक गया । उनकी वज्र जैसी भुजाएँ टूटी हुई टहनियों की तरह निर्बल और असहाय लग रही थीं । उनकी दर्पित दृष्टि कातर प्रार्थना से त्रस्त और करुण दिखाई दी । क्या ये ही हैं आर्य नेता, परमवीर आर्यों के रक्षक, मानव से देवता, देवता से देवराज के पद तक पहुँचे परम ऐश्वर्यशाली स्वर्गपति इन्द्रदेव ? क्या ये ही हैं मेरी कल्पना के परमकाम्य प्रेमी पुरुष इन्द्रदेव ? मैं तो सोचती थी कि प्रेम शक्तिमय करता है । तो क्या यह प्रेम नहीं था ? क्या यह कामलिप्सा थी, भोग लम्पटता थी ? हे प्रभु ! यदि आपने मुझे इन्द्रदेव का यह दयनीय रूप न दिखाया होता तो मैं आपके प्रति कृतज्ञ रहती । इन्द्रदेव के 'प्रेमी रूप' मे डूबे रहकर मैं अपना सारा जीवन उनकी प्रेमिका बनकर बिता देती । मेरी ही आँखों के सामने यह दृश्य क्यों घटित हुआ ? सम्भवतः मेरा पाप मुझे जता देने के लिए ही यह नाटक का एक अनसोचा अन्तिम दृश्य था ।

महर्षि गौतम की दृष्टि अग्नि-सी जल रही थी। भय से रूपराज इन्द्रदेव के चेहरे का रंग उड़ गया था। वज्रगम्भीर स्वर में भर्त्सनाभरी वाणी सुनाई दी पतिदेव के कण्ठ से। तपोवन में पाप की यह कैसी अनार्य लीला है ! जितेन्द्रिय साधक की भूमि पर संयम की यह कैसी दयनीय परिणति है ! त्याग की इस तीर्थभूमि पर भोग का यह कैसा बीभत्स कार्य ?

"वासव, तुम तो देवताओं के प्रतिनिधि देवराज हो, स्वर्ग के अधिपति, आर्यों के रक्षक, परम शक्तिशाली वीर हो। जगत् के अभीष्टदाता हो ! स्वर्ग में तुम्हारी प्राणप्रिया पत्नी शचीदेवी एवं असंख्य अप्सराएँ हैं।मर्त्य की इस मूढ़ नारी ने तुम्हारी समस्त शक्तियों और प्रचण्ड पौरुष पर पदाघात करके तुम्हें स्खलित कर दिया ! तुम्हें कामुक और लम्पट बना दिया ? क्या इतने क्षुद्र हो तुम ? तुम चाहते तो इस सामान्य नारी को मुझसे जीतकर ले जा सकते थे। चोरों की तरह लुक-छिपकर इस कामातुर मूढ़ नारी को प्रशंसा भरे वाक्य कहकर, इसे भोगकर स्वयं निष्प्रभ हो गए। सप्तसिन्धु में तुम्हारा अभिमान चूर-चूर हो गया। अब आज से तुम पूज्य नहीं रहे। तुम घृणित और निन्दनीय हो गए। मैं तुम्हें अभिशाप देता हूँ, तुम चाहे कितनी ही सुन्दरियों का भोग करो, तुम्हारी कामज्वाला नपुंसक पुरुष की तरह कभी शान्त नहीं होगी। तुम कामवासना से जन्म-जन्मान्तर पीड़ित रहोगे। हे जार पुरुष ! इस समय तुम पाप के प्रतिरूप एक भीगी बिल्ली की तरह दिख रहे हो। धिक्कार है तुम्हारे इन्द्रत्व को !"

गौतम का ऐसा तेजस्वी रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा था। इन्द्र का भीगी बिल्ली-सा रूप मेरी कल्पना से परे था। मेरे परम पुण्यवान् पति के सम्मुख इन्द्र पाप की कुत्सित परछाईं लग रहे थे। परम प्रतापी इन्द्र गौतम की भर्त्सना सुनकर बिना कुछ बोले सचमुच भीगी बिल्ली की तरह वहाँ से खिसक लिए। उनके सिर से गिर पड़ा मणिमय मुकुट। उसे उठाने तक का साहस नहीं था इन्द्र में, स्वर्ण रथ पर चढ़ने का मनोबल भी नहीं था उनमें। वे अरण्य के संकीर्ण कंटकित मार्ग से होकर पीछे मुड़कर देखे बिना एक चोर की तरह वहाँ से चले गए।

पृथ्वी का एक छोटा-सा झटका मनुष्य के बनाए अपार वैभव को क्षणभर में धूल में मिला देता है, आग की एक नन्ही-सी चिनगारी अथाह ऐश्वर्य को पलक झपकते भस्म कर देती है, एक बूँद विष अमृत की महिमा को विषाक्त कर देती है, इसी तरह मेरे जीवन भर का समस्त पुण्य इस क्षणिक पाप से धूल में मिल गया।

जिस तरह अग्नि से अग्नि प्रज्वलित होती है, उसी तरह पवित्रता से पवित्रता और पुण्य से पुण्य ही उत्पन्न होता है। विशुद्ध प्रेमभाव लिए, पुण्य संकल्प लिए, मैंने स्वयं को स्वाहा कर दिया था। तो फिर मेरे पति घृणित दृष्टि से मेरी ओर क्यों देख रहे हैं ? क्या मेरा देह-समर्पण वासनाजड़ित था ? मैं स्वयं को पापिन क्यों नहीं मान रही ? दैहिक सम्बन्धों की वैधता-अवैधता को लेकर यदि पाप-पुण्य की परिभाषा की जाए तो अधिकांश आर्य, राजा, ऋषि और यहाँ तक कि देवता को भी महापापी कहा जाना चाहिए। वैधता से बाहर न जाने वे कितनी परनारियों का भोग करते हैं। किन्तु सिर्फ़ अहल्या के लिए ही पाप की यह दुनिया किसने गढ़ी ? कौन है इस पाप को करने वाला ? मेरे पिता – पति – प्रेमी – यह समाज ?

न जाने मैं क्या कुछ सोच रही थी। सोच रही थी कि कहाँ है वर्षा – कहाँ मिली सिद्धि ? क्या मेरे बलिदान का फल यह अमिट कलंक है – अमुक्त अभिशाप है ?

मैं स्वयं ही यज्ञ हूँ, स्वयं ही स्वाहा, और फिर स्वयं ही आत्माहुति देकर परित्यक्त दग्धभूमि में परिणत हो चुकी हूँ।

क्या गौतम मेरी मनःस्थिति समझ पाएँगे ? क्या पुण्य और तपस्या से परे उन्होंने कभी मुझे समझने की चेष्टा की है ? पुण्य और तपस्या से परे भी जीवन प्रवाहित है, इस बात पर वे विश्वास नहीं करते। अब मुझे क्या करना चाहिए ? क्या इन्द्रदेव का अनुसरण करूँ ? उनकी शरण में जाऊँ ? छिः, जो अपनी ही रक्षा करने में असमर्थ हैं, भला वे मेरी रक्षा क्या करेंगे ? मेरी रक्षा करनी होती तो क्या वे मुझे गौतम का अभिशाप पाने के लिए छोड़ जाते ? बल्कि वे गौतम के सम्मुख गर्व के साथ खड़े होकर सारी दुनिया को सुनाते हुए कहते, 'मैंने तुम्हारी प्राणप्रिय पत्नी की देहभूमि पर प्रेम का हस्ताक्षर कर दिया है। अपूर्ण अहल्या बन गई है पूर्णगर्भा नारी। गौतम ! जिस पुरुष की पत्नी परपुरुषगमन करती है, उसके लिए असफल पति ही अधिक उत्तरदायी होता है। तुम मुझे लम्पद कामुक, दुश्चरित्र कहते आए हो। किन्तु मेरी पत्नी शचीदेवी मुझसे सन्तुष्ट है – वह मेरे प्रति विश्वस्त है। हे तर्कनिष्ठ महर्षि, अहल्या तुम्हारे जीवन की एक सीख है। किस पुरुष में नहीं होता सौन्दर्यलिप्सु परनारी भोगवादी इन्द्र? किस नारी में नहीं होती प्रेमविधुर देहविह्वल अहल्या ? क्या कभी सोचा है उस बारे में ? कभी किया है प्रतिकार ? कभी किया है स्वीकार इस सत्य को ? सौन्दर्य और नारी को लेकर शर्त लगाने के तर्क और तत्त्व के परिणाम युगों से यही होते आए हैं। ब्रह्माजी की इच्छा से तुमने अहल्या से विवाह किया था। क्या अहल्या की इच्छा और आकांक्षा स्वप्नविहीन एक देहधारी नारीमात्र है ?

'किन्तु तुम अपने जितेन्द्रिय अहंकार के कारण अहल्या की देह को जीतने में भी अक्षम रहे। ऐसा दाम्पत्य अभिशाप होता है। इसलिए तुम मुझे अभिशाप देने से पहले अपने कर्म से स्वयं ही अभिशप्त हो चुके हो। गौतम ! मुझमें तुम्हारे प्रति ईर्ष्या थी छात्रावस्था से। आज मुझमें तुम्हारे प्रति अनुकम्पा उत्पन्न हो रही है। परपुरुषगामी नरी के पति पर सिर्फ़ दया करती है दुनिया, उसे नपुंसक समझती है। तुम अहल्या के योग्य पुरुष नहीं हो। इसलिए मैं अहल्या को प्रेमिका के रूप में वरण करता हूँ। शक्ति हो तो उसे मेरे प्रेमबन्धन से छुड़ा लो ...'

किन्तु ये केवल मेरे भाव मात्र थे। इन्द्रदेव तो अन्तर्धान हो चुके थे। क्या गौतम के पैर पकड़कर क्षमा माँग लूँ ? माँग लूँ सुरक्षित पत्नीत्व ? नहीं, अब इसके बाद मेरा और गौतम का पति-पत्नी बनकर रहना सम्भव नहीं। न तो उनका मुझे स्वीकार करना सम्भव है और न ही मेरा स्वयं को अर्पण करना सम्भव है। वैसे भी हमारे बीच बहुत दिनों से शारीरिक सम्बन्ध नहीं है। गौतम रूप के पुजारी नहीं हैं। रूप उनकी दृष्टि में माया है। फिर भी उस मायापथ पर मुनि-ऋषि देवताओं के पैर फिसल जाते हैं। गौतम की दृष्टि में शरीर तुच्छ है, आत्मा शरीर से ऊपर है। सम्भवतः मेरी देह मेरे अवचेतन में इन्द्रदेव के पौरुष के प्रति मोहित थी। किन्तु क्या गौतम के ज्ञानगर्भ व्यक्तित्व ने मुझे मुग्ध नहीं किया ? तो फिर इन्द्रदेव में मैं गौतम को क्यों ढूँढ़ रही थी ? इन्द्रदेव के आलिंगन में रहकर मेरी तन्द्राछन्न अन्तरात्मा 'गौतम', 'गौतम' कहकर क्यों रो रही थी ? वास्तव में मैं अपने पति को प्रेमी के रूप में चाह

रही थी, यह मेरे सिवा और कौन जान सकता है ? आत्मा को प्रमाण बना सके, क्या ऐसा कोई है पृथ्वी पर ? गौतम सिर्फ़ पति थे, प्रेमी नहीं। इन्द्रदेव प्रेमी के रूप में आए – किन्तु वे आए थे काम-रूपी दानव की तृप्ति के लिए प्रेम-देवता के छद्मवेश में। मैं चण्डालिनी यह समझ नहीं सकी। या फिर समझते हुए भी अनजान बनने का अभिनय करती रही ? जब तक मैं समझ पाई, तब तक काम-दानव मेरे पुण्य और संयम को ग्रस चुका था। अब इतनी सफाई देकर क्या लाभ ? गौतम मुझे क्षमा कर भी दें तो भी अब मैं अपने पूर्वस्थान पर लौट नहीं सकती। गौतम की वह क्षमा उनकी दया और घृणा का रूपान्तर मात्र होगी।

इस घटना की जानकारी गौतम को छोड़कर अभी तक किसी और को नहीं थी। बीती रात के प्रलय के बाद प्रथा यंत्रणा से छटपटाती हुई कुटिया से बाहर आकर उद्यान के शिरीष पेड़ के नीचे सो गई है। वह गहरी नींद में है। अँधेरा अभी छटा नहीं था। गौतम अपने स्वामित्व के अहंकार को बचाए रखने के लिए इस बात को पेट में रखकर मुझे गृह में स्थान दे सकते थे। सबके सामने पति-पत्नी का अभिनय कर सकते थे। दुनिया में ऐसे न जाने कितने पति-पत्नी छलपूर्ण जीवन जी रहे होंगे। किन्तु गौतम या मैं छलभरा जीवन बर्दाश्त नहीं कर सकते। इसलिए यही अन्त था।

गौतम मेरे सम्मुख आकर खड़े हो चुके थे। जल्लाद के मुख-सा दिख रहा था उनका गुस्से से तमतमाया मुख। उन्होंने रूखे स्वर में प्रश्न किया, "हम दोनों के एक-दूसरे से अलग हो जाने से पहले कहो अहल्या, क्या लम्पट इन्द्र मेरे छद्मवेश में आया था ? कहो, क्या तुमने अँधेरे में अनजाने ही ... इन्द्र को गौतम समझकर ..."

गौतम का मुख इस समय करुण दिखाई दे रहा था। गौतम को मालूम है कि सच क्या है। गौतम यह भी जानते हैं, पति के छद्मवेश में ईश्वर भी आ जाएँ तो भी अनुभवी पत्नी स्पर्शमात्र से समझ लेगी, पति है या परपुरुष ? इसके बावजूद गौतम का यह प्रश्न पूछने का क्या कारण है ? अनजाने में पत्नी परपुरुष के साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित कर ले तो वह पत्नी पतिता कहलाती है, जबकि स्वामित्व में कोई आँच नहीं आती, स्वामित्व के अहंकार को चोट नहीं पहुँचती। मुझे बचाने के लिए नहीं, बल्कि स्वयं अपनी रक्षा करने के लिए गौतम का यह शिशु-सुलभ प्रश्न था। मैंने सिर झुकाए हुए निर्लिप्त स्वर में उत्तर दिया, "इन्द्रदेव छद्मवेश में नहीं आए थे। वे इन्द्र के ही वेश में आए थे।"

गौतम का मुख काला पड़ गया।

"इसका अर्थ तुम स्वेच्छा से ... या लम्पट इन्द्र ने तुमसे जबरन ..." गौतम का उत्सुक प्रश्न था।

"अहल्या से बलात्कार करने की शक्ति देवता, असुर, मनुष्य किसी में नहीं है। मैं सोमयाग की स्वाहा हूँ ... मैं पशुयाग की बलि हूँ ... स्वामिन् ! मैंने इन्द्रदेव को तृप्त किया है। वर्षादाता इन्द्रदेव जगत् की रक्षा करेंगे। आप यही तो चाहते थे ..." इतना कहते-कहते मेरी आँखों में आँसू भर आए।

उस ओर ध्यान दिए बिना गौतम ने पुनः प्रश्न किया, "मेरा मन कहता है कि तुम अपने भोलेपन या बलात्कार का शिकार हुई हो। सच बताकर मेरे क्रोध को शान्त करो मूढ़ नारि! या फिर अभिशाप भोगने को तैयार हो जाओ!"

'यदि अनजाने में मैंने स्वयं को इन्द्रदेव के समक्ष समर्पित कर दिया हो या यदि मैं इन्द्रदेव के बलात्कार की शिकार हुई हूँ, तो मेरा सतीत्व बचा हुआ है या नहीं?' एक ऐसा प्रश्न मेरे मन ने स्वतः मुझसे पूछा। मैंने सोचा, यदि गौतम के तत्त्व में शरीर मूल्यहीन है, तो फिर अनजाने में इन्द्रदेव को गौतम समझकर या बलात्कार के कारण मैं परपुरुष द्वारा भोगी गई हूँ, ऐसे मेरी आत्मा कलुषित होगी या नहीं, उस सम्बन्ध में तत्त्वज्ञ गौतम जो उत्तर देंगे, वह मैं जानती हूँ।

क्या मैं आत्मा से गौतम को चाहती थी, शरीर से इन्द्र को! शरीर आत्मा का आधार है। शरीर का पतन होता है और उसकी मृत्यु होती है, जबकि आत्मा अविनाशी है। क्या सिंहासन अपवित्र होने से देवता भी अपवित्र हो जाते हैं?

तत्त्वदर्शी गौतम की वाणी आज भी गूँज रही है मेरे हृदय में – 'तुम्हारे साथ मेरा सम्बन्ध आत्मा का है। मैं तुम्हारे शरीर को नहीं देखता, तुम्हारी आत्मा देखता हूँ।' यह वाणी सुनती आई हूँ उनसे हर क्षण। सुनते-सुनते सम्भवतः गौतम को परखने के लिए मेरे अवचेतन में एक प्रण न जाने कब बीज से महाद्रुम बन चुका था। गौतम के सन्देह ने उस पर जल और उत्ताप का लेप किया है। यदि आज मेरी देह ने शुचिता खोई है, गौतम मुझे स्वीकार करेंगे या मेरा त्याग करेंगे? मुझे परखने में गौतम की हार होगी या जीत? यदि अब भी गौतम मुझे स्वीकार कर लेते हैं तो मैं स्वयं ही उनके जीवन से दूर चली जाऊँगी। यदि गौतम मुझे स्वीकार करेंगे तो समाज की दृष्टि में मेरी मर्यादा रक्षा करने के लिए नहीं, बल्कि अपने पौरुष का अहंकार साबित करने के लिए करेंगे।

अब मेरे अन्दर गौतम और इन्द्र का द्वन्द्व नहीं था। आज मैं किसी की नहीं थी। न इन्द्र की, न ही गौतम की।

मैंने विनम्रतापूर्वक कहा, "स्वामिन्! कामासक्त वासव ने प्रेमदेवता के छद्मवेश में आकर इन्द्रजाल फैला दिया था। क्षणभर के लिए उस इन्द्रजाल के मोह में पड़कर मैंने समाज द्वारा गढ़ा नियम तोड़ दिया। क्या मैं क्षमा के योग्य हूँ?" क्या मैं अपने प्रिय आश्रम में रह सकती हूँ?"

"किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, तुम एक जारपुरुष द्वारा भोगी गई नारी हो – तुम्हारी शुचिता नष्ट हो चुकी है। तुम्हारा पत्नीत्व का अधिकार समाप्त हो चुका है। तुम क्षम्य नहीं हो – अभिशप्ता हो ... किन्तु तुम इस आश्रम में ही रहोगी। यह शुद्धभूमि तपोवन आज कलंकित है। सिर्फ़ मैं ही तुम्हारा परित्याग नहीं कर रहा – यह आश्रम, यह मिट्टी, यह वनभूमि – सभी परित्याग कर रहे हैं। तुम्हारे नारीत्व का सारा गौरव, सारी पवित्रता, सारा पुण्य अस्त हो गया। तुम्हारा मुख देखते ही देखने वाले की चेतना में पाप की कालिख भर जाएगी। इसलिए सभी आश्रमवासी, मुनिगण, ऋषिगण, आश्रमवासिनी, ऋषिपत्नी और ऋषिकुमारी तुम्हारे पाप से प्रभावित होकर भ्रष्ट

हो जाने से पहले मैं सबको साथ लेकर हिमालय की गोद में जा रहा हूँ। वहाँ नया आश्रम बनाऊँगा। अध्यक्ष बनेगा मेरा शिष्य माधुर्य। तुम्हारा पति होने का जो अपराध मैंने किया है, उस पाप को मिटाने के लिए मैं कठोर तपस्या में लीन हो जाऊँगा।"

अब तक आश्रमवासी वहाँ इकट्ठा हो चुके थे। वे हम दोनों की ओर स्तब्ध हो देख रहे थे। मुनि, ऋषि, ऋषिकाएँ घृणा-जर्जर दृष्टि से मेरी भर्त्सना कर रहे थे। सोचा था, इस दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी में माधुर्य मेरा साथ देंगे। कम-से-कम मधुक्षरा मेरे प्रति सहानुभूति जताएगी, लेकिन गौतम की घोषणा से माधुर्य प्रसन्न लग रहे थे। क्या गौतम आश्रम के अध्यक्ष पद के लिए वे लालायित थे ? मैं इन्द्र की अन्तरंग हूँ, क्या यह जानकर मधुक्षरा मुझसे ईर्ष्या कर रही थी ? किसी ने भी मुझे मिले अभिशाप का पक्ष नहीं लिया।

गौतम ने पुनः घृणित क्रोध से आँखें लाल करके कहा, "एक बार चारों ओर देखो भ्रष्टा, रमणि ! तुम्हारे पाप की आँधी से किस तरह यह तपोवन ध्वस्त-विध्वस्त हो गया है, तुम्हारे कलंक के उत्ताप से पक्षीजन वृक्ष की शाखाओं से गिरने लगे हैं। फूल-पत्ते मुरझा गए हैं। तुम्हारे पाप के प्रभंजन से मेरा यज्ञ ध्वस्तहो गया। सप्तसिन्धु अंचल में अब वर्षा की सम्भावना नहीं बची। भयंकर अकाल पड़ने को है। तुम्हारे पाप का फल आश्रमवासी क्यों भोगें ? अपने पाप का फल तुम अकेले भोगने के लिए यहीं पड़ी रहो वर्षों जडवत्। जिस सौन्दर्य के गर्व से तुममें इन्द्र को आकर्षित करने का अहंकार भरा था, उस सौन्दर्य को देखने के लिए अब तुम्हारे साथ रहेगा सिर्फ़ तुम्हारा कदाकार पाप। अहल्या !! ऐसा विकराल पाप करने के बाद तुम पश्चात्ताप और लज्जा से पत्थर क्यों नहीं बन गई ? अपना यह कलंकित मुख सबको दिखा कैसे रही हो ? ऊपर से सबके समक्ष निर्लज्ज बन यह घोषणा कर रही हो कि तुम जान-बूझकर इन्द्र की कामाग्नि में कूदी हो ! धिक्कार है तुम्हें अहल्या – मृत्यु भी नहीं है तुम्हारे विराट् पाप का प्रायश्चित्त। तुम जीवित रहो और इस पाप का ताप सहस्र वर्षों तक तिल-तिल सहती रहो। पश्चात्ताप में भी तुम्हारी आत्मशुद्धि सम्भव नहीं।"

देहासक्त देवाधिराज इन्द्र में कुत्सित 'काम' और उनका भीगी बिल्ली बना रूप देखने के बाद मुझे मेरे पति जितेन्द्रिय गौतम परमेश्वर जैसे लगे। आँसुओं से सराबोर हो हाथ जोड़कर विनम्र कातर स्वर में मैंने गौतम से विनती की, "स्वामिन् ! आप से सच छुपा लेती तो शायद इतना बड़ा अभिशाप न मिलता मुझे। लेकिन पाप छुपाने का पाप भी कम बड़ा पाप नहीं होता। उसी पाप से बचने के लिए मैंने आपके समक्ष, सबके समक्ष अपने पाप को निर्लज्ज-सी मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। मैं अपने पाप का प्रायश्चित्त करने को तैयार हूँ। परन्तु क्या मेरे प्रति आपके इस विकट अभिशाप का मोक्ष नहीं है ?

गौतम का ऐसा प्रकृत, उदार, शान्त रूप पहले कभी नहीं देखा था मैंने। उन्होंने मन्द गम्भीर स्वर में कहा, "तपश्चरण ही इस पाप का एकमात्र प्रायश्चित्त है। 'कामभाव' और 'रामभाव' – ये दोनों मनुष्य के वश में होते हुए भी उन दोनों के लगातार संघर्ष में सचराचर 'कामभाव' की ही सहज जीत होती है। जिस दिन तुम्हारी कामदग्ध मनोभूमि में राम रमणीय रूप में उदित होंगे, उसी दिन तुम राम का दर्शन करोगी और शापमुक्त हो जाओगी। अहल्या, यह अभिशाप ही तुम्हारे लिए वरदान हो।"

तप

हे मेरे नमस्य तप ! इस अभिशप्ता का प्रणाम स्वीकार करो । परिपूर्णता ने मुझे निर्लिप्त कर दिया है । प्राप्ति की घड़ियाँ एक-एक करके मेरे हृदय का द्वार रुद्ध करती जा रही हैं । प्राप्ति का मेघ मल्हार अभी थमा भी न था कि अभिशाप का आकाश टूट पड़ा मुझ पर ।

कुछ घड़ी पहले मैं थी परम सौभाग्यवती इन्द्रजिता नारी – अब हूँ अभिशप्ता अहल्या । किन्तु अपनी प्राप्ति और पूर्णता में मैं इस तरह मग्न थी कि अपने अभिशाप की विकरालता उस क्षण समझ न सकी । मैं थी इन्द्र में मग्न । गौतम, माधुर्य, आश्रम, नीति, नियम और प्रथा – सभी मुझे मिथ्या और असत्य लग रहे थे । ऐसा लग रहा था मानो जीवन का एकमात्र सत्य है इन्द्र और इन्द्रिय-सुख ही श्रेष्ठ सुख है । इन्द्र की प्राप्ति मुझे परमप्राप्ति-सी लग रही थी । उसके बाद मानो कोई और प्राप्ति बची ही न हो । किन्तु सब कुछ रीत जाने के बाद जब निस्संगता चारों ओर से मुझे मुँह खोले लील जाने को हुई, उस समय मेरे अन्दर से किसी ने प्रश्न किया – 'क्या तुमने सचमुच इन्द्र को प्राप्त कर लिया है ? कहाँ हैं तुम्हारे इन्द्र ? इन्द्रप्राप्ति यदि परमप्राप्ति है, तो फिर क्यों है यह निस्संगता ? क्यों है यह आत्मविषाद ?' कुछ क्षणों पहले इन्द्र को सन्तुष्ट करना मेरा काम्यकर्म था । क्या काम्यकर्म का अन्त भी इतना दुःखद हो सकता है !

यदि काम्यकर्म सही न हो ... वह अनन्त दुःखों को बुला लाता है, मैं स्वयं इसका प्रमाण हूँ । सम्भवतः इसलिए न तो मैं गौतम को पा सकी और न ही इन्द्र को । गौतम और इन्द्र ने भी मुझे पाकर पुनः खो दिया ।

गौतम अपने वैराग्य और अनुशासन की कठोरता के कारण मुझे पाकर भी न पा सके – इन्द्र ने मुझे भोग-सर्वस्व समझकर पाया और खो दिया । इसलिए क्षणभर पहले जो कुछ प्राप्ति और परिपूर्णता-सा प्रतीत हुआ था, अगले ही क्षण वह चरम अप्राप्ति और शून्यता बनकर कचोट रहा है ।

क्षण भर के लिए सही, मेरी देहाभिमानी सत्ता भोग-देवता के प्रति निष्कपट समर्पण के कारण इन्द्र में लीन हो गई थी जबकि गौतम मेरे पति होते हुए भी मुझसे इतना कुछ नहीं पा सके । मैं यह जानती हूँ कि मेरा यह अनन्य अभिशाप हमेशा के लिए मेरे माथे पर खलरेखा बनकर रह जाएगा । आज मेरी सुन्दर देह पाप के हस्ताक्षर से कुत्सित हो गई है, यह भी मैं जान चुकी हूँ । मेरी ओर एक बार भी देखे बिना सभी वहाँ से चले गए । आश्रम में पलने वाले पशु-पक्षियों को भी वे अपने साथ ले जाना नहीं भूले । बीती रात के प्रलय से सम्पूर्ण पर्णकुटी भस्मस्तूप में बदल गई । अब वहाँ बचा ही क्या था ? नगर, जनपद, ऋषि-मुनियों के आश्रम सबके द्वार मेरे लिए बन्द हो गए । दुनिया की दृष्टि में मैं थी महापापिन ।

इन्द्र ने जो पाप किया, वह मेरे पाप की तरह विशाल नहीं था, क्योंकि बहुनारीसंग इन्द्र का धर्म था । पत्नी से विमुखता-रूपी अपराध से गौतम पापी नहीं हुए, क्योंकि गौतम महर्षि और जितेन्द्रिय ठहरे । जो पाप नाना जटिल मानसिकता के कारण घटित हो गया, वह एकमात्र पापिन अहल्या के कारण हुआ ! क्योंकि अहल्या नारी थी, वह किसी पद-पदवी पर नहीं थी । गौतम की 'पत्नी' का पद ही अहल्या की एकमात्र पदवी थी, इस पदवी ने

अहल्या को कभी कोई अधिकार नहीं दिया क्योंकि पत्नीत्व का अधिकार पत्नी के हाथ में नहीं होता, होता है पति के हाथ में। पति चाहे तो उस अधिकार से पलक झपकते वंचित कर सकता है पत्नी को। कहाँ, इस पाप के कारण इन्द्रदेव का इन्द्रपद तो नहीं छिना, उनकी पत्नी शचीदेवी ने उन्हें पति के पद से अलग भी नहीं किया। इन्द्र के प्रति गौतम का अभिशाप इन्द्र के पाप की तुलना में तुच्छ प्रतीत हो रहा है इस घड़ी। वह अभिशाप मात्र इतना ही था: 'तुम्हारी कामज्वाला कभी शान्त न हो। सहस्र कामेन्द्रियों द्वारा कामभोग करने पर भी अतृप्त कामवासना और परनारी भोगलिप्सा से तुम जन्म-जन्मान्तर दग्ध और निन्दित होते रहो ...' ऐसे अभिशाप द्वारा केवल इन्द्रदेव ही अभिशप्त नहीं हुए, अभिशप्त हो गया तीनों लोक का नारी समाज। इस अभिशाप के कारण इन्द्रदेव की भोगलालसा में न जाने और कितनी अहल्याएँ बलि चढ़ेंगी, क्या यह बात महर्षि गौतम के तर्कनिष्ठ मस्तिष्क में नहीं घुसी?

विचित्र हैं दुनिया के नियम। यदि परिस्थितिवश एक बार तुम्हारा स्खलन हो गया, तो यह मान लिया जाएगा कि स्खलन तुम्हारी चिराचरित प्रवृति है। निन्दा और भर्त्सना हमेशा के लिए तुम्हारी नियति बन जाएगी। उसके बाद तुम्हारे हर कार्यकलाप पर प्रश्नचिह्न लगा दिया जाएगा। फिर तुम्हारे लिए अतीत से छुटकारा पाना सम्भव नहीं। अतः तुम एक वर्जित समाज में पापियों के बीच अपनी जगह चुनने को बाध्य हो जाओगे। तुम्हारा अतीत तुम्हारे ललाट पर अमिट अक्षरों में लिखा रह जाएगा और तुम्हें एक गलत जीवन-पथ पर ले जाएगा। इसीलिए समाज में इतने अपराध होते हैं। इतने पाप होते हैं! तुम एक बार पानी में डुबकी लगा लो तो फिर पानी से डर कैसा? प्रलय की चपेट में आ जाने के बाद फिर प्रलय से डर कैसा? एक बार मृत्यु के चंगुल में पड़ जाने के बाद क्या फिर मृत्यु से डरने का अवकाश रह जाता है? परन्तु मैं आज भी पाप और पुण्य के द्वन्द्व में पड़ी हुई हूँ। इतना बड़ा पाप करने के बाद भी स्वयं पापिन क्यों नहीं समझ रही? सोचती हूँ, देह की आवश्यकताएँ भी तो होती हैं। तो फिर देह का तिरस्कार क्यों करूँ?

मोक्ष

ऐ मेरे ईप्सित मोक्ष!

इस अभिशप्ता का निष्कपट प्रणाम स्वीकार करो। भूलोक, द्युलोक, अन्तरिक्ष के कुठाराघात से मेरे भीतर का कलुष बाहर निकल रहा है। स्वयं को शुद्ध करने के लिए मैं तुम्हारी शरण में आई हूँ।

पृथ्वी और आकाश के बीच आकर्षण और विकर्षण के द्वन्द्व से एक नया द्वीप बनने की तरह शाप और मोक्ष, यौवन और जरा, काम और राम के द्वन्द्व से मेरी चेतना में भी एक नए द्वीप ने जन्म लिया है। मेरे भीतर से कोई कह रहा है कि मनुष्य को परम उपलब्धि प्राप्त होती है श्रद्धा और सदिच्छा से। घृणा, प्रतिहिंसा और हताशा से उपलब्धि नहीं मिलती। यदि मिलती भी है तो वह मोक्ष नहीं हैं। हताशा नहीं बल्कि नई आशा और सदिच्छा मुझे मेरे मोक्षपथ पर चला रहे हैं। उस मोक्ष का स्वरूप क्या है? अमरत्व – स्वर्ग-प्राप्ति – अनन्त यौवन! नहीं आज इन सबसे मेरा आकर्षण टूट गया है। स्वर्ग के स्वरूप और यौवन के पराभव ने मुझे ठेस पहुँचाई है। मेरे जीवन की

अन्तिम अभीप्सा है जडत्व से मुक्ति, देह-बन्धन से मुक्ति, काम-पाश से मुक्ति। आज अन्तःकरण का चरम त्याग ही मेरी तपस्या है। आज अन्तर्यज्ञ ही मेरा अभीष्ट है। आज यौवन मेरे लिए भोग नहीं, बल्कि वैराग्य है।

मैं अभिशाप भोग रही हूँ, समाज द्वारा ठुकराई गई हूँ, निन्दित हूँ, लांछित हूँ पर मैं समाजविमुख नहीं हूँ, पृथ्वीविमुख नहीं हूँ, आनन्दविमुख नहीं हूँ। सुख और आनन्द के बीच का सूक्ष्म अन्तर आज मेरे समक्ष स्पष्ट है। अतः सुख नहीं, आनन्द की आराधना ही आज मेरा व्रत है।

मैं सम्पूर्ण आनन्दमय स्थिति में कैसे पहुँचूँगी ? कौन हैं वह वैरागी पुरुषोत्तम, जो मुझे दिव्यस्पर्श देकर प्रतिस्पर्श में बदल देंगे ?

अभिशाप मुझे इतना विचलित कर रहा है कि मेरी सुन्दरता तक मुझे खाने को दौड़ रही है। आज इन्द्र न तो मेरे आश्रयदाता हैं न ही अभीष्टदाता। गौतम तो पति होते हुए भी शापदाता हैं। अतः एकमात्र गति-मुक्ति परमात्मा ही हैं।

किन्तु परमात्मा की करुणावारि प्राप्त करने की एकाग्रता कैसे प्राप्त करूँ ?

पृथ्वी के केन्द्रबिन्दु में अग्निकण की तरह परमात्मा को स्मरण करते ही मैं अपने अन्दर देह से पृथक् एक आलोकित सूक्ष्म स्फुलिंग की सत्ता का अनुभव करती हूँ। इस सूक्ष्म अन्तःकरण को प्रकाशमान् करने वाली कोई प्रबुद्ध शक्ति मेरे भीतर है, ऐसा मुझे विश्वास होता है। फिर आँखें बन्द करके अन्दर देखने पर विश्वास नहीं होता कि अपने अन्दर की वह तेजस्वी सत्ता मैं ही हूँ। कौन लौटाएगा मुझे मेरा विश्वास ? योगच्युत गौतम या मतिभ्रष्ट इन्द्र !

* * *

मैं नहीं जानती थी कि राम कौन है, फिर भी रमणीय राम का आह्वान निरन्तर करती रही। मेरी प्रार्थना ने मुझे धीरे-धीरे प्रकृति का एक अविच्छिन्न अंग बना दिया। मैं भूमि से लिपटी पड़ी रही। मैं जितना-जितना निष्कामी होती गई, प्रेम का वास्तविक स्वरूप समझती चली गई। समझ गई कि अध्यात्म ही है निष्कपट प्रेम। मैं ईश्वर को प्रेमी के रूप में ढूँढ़ने लगी। मैंने ईश्वर को प्रेमी इन्द्र और पति गौतम में ढूँढ़ा था। उस प्रेम में थी अनेक प्रत्याशाएँ। प्रत्याशा पहले साँप की तरह सुन्दर लगती है, किन्तु अगले ही क्षण चोट मारती है और अशेष यंत्रणा देती है। मैंने जितना-जितना राम को ढूँढ़ा, मेरा हृदय रामभाव से मानो उद्वेलित-सा होने लगा।

मुझे सारा जगत् सरल, निष्पाप, कोमल, भोले-भाले सुन्दर शिशु जैसा लगा। राम निश्चित ही देवोपम पुरुष हैं। जिस राम के दर्शनमात्र से एक विशाल पाप, उससे भी विशाल अभिशाप मिट जाएगा, ऐसा गौतम ने कहा है, ब्रह्मा ने कहा है, वे राम साधारण मानव तो होंगे नहीं ? तो क्या वे परमात्मा की तरह दिव्य होंगे ? परमात्मा को किसी से भी द्वेष नहीं होता। परमात्मा शिशु की तरह समभावापन्न होते हैं। शिशु की तरह छल-कपटहीन होते हैं। शिशु अज्ञानी और दुर्बल होता है; इसलिए निष्पाप और क्षमाशील होता है। परमात्मा सर्वज्ञानी और सर्वशक्तिमान्

होता है; इसलिए निष्पापी और क्षमाशील होता है। हजारों बार पिताजी से यह बात सुनी है। फूल के हृदय की ओस की बूँदें, कमल के वक्ष का केसर, वृक्ष की डाल पर फल, पृथ्वी के वक्ष का शैलराज, आकाश के वक्ष के चाँद और सूरज मुझे जननी के वक्ष पर शिशु की तरह लगे। मैं रमणीय राम को बिना देखे, बिना जाने भी सरलतम, कोमलतम, पवित्रतम परमात्मा के रूप में दर्शन करने के लिए स्तुति करने लगी। उस स्तुति ने प्रेम के मनोरम राग से मेरे शाप तापदग्ध मनोभूमि को मंत्रित कर दिया। जननी के अपनी सन्तान से घुल-मिलकर शिशु बन जाने की तरह मैं राम को पुरुषोत्तम समझकर शिशु बन गई। पूर्व पाप-बोध एवं क्षुद्र कामना, वासना मेरे अन्दर से दूर चले जाने जैसे लगे। मेरा हृदय उन्मुक्त हो गया। दग्ध वनभूमि की सीमा पार करके सप्तलोक पर दृष्टि डालते ही मुझे सब कुछ दिव्य और मंगलमय दिखने लगा।

* * *

त्रिलोक अभिलषित तमालवर्णी, नवारुणोद्भासित, गैरिकवस्त्रधारी, प्रेमदीप्त, श्रीरामरमणीय तमाल की छाया में विनोदभरी मुस्कान लिए झलक रहे हैं। मेरी इच्छा-रहित अमृतबेला में कौन हैं ये निष्कलंक कान्तियुक्त पुरुषोत्तम ? अन्तःकरण की शुद्धता और जागरूकता के कारण वे नर होकर भी नारायण जैसे लग रहे हैं। ऋद्धि-सिद्धि के मंजुल पथ पर यात्रारम्भ करने के कारण वे किशोर होने पर भी प्रवीण लग रहे हैं। वे प्रेममय होते हुए भी कामरहित होने के कारण यौवन में भी महाकाल की तरह निर्लिप्त दिखाई दे रहे हैं। अन्तःकरण के भाव संवेदना से उनमें अपना-पराया, आर्य-अनार्य, देव-दानव, नर-वानर का भेदभाव न होने के कारण वे आयु से परे, कालातीत परमात्मा जैसे लग रहे हैं।

आँखों पर पड़ी परत हट गई। अहल्या को चौदह ब्रह्माण्ड दिखने लगे। उनका श्यामघन शरीर आकाश जैसा है, उनके घने घुँघराले केश नीले आकाश में मधुपमेखला जैसे हैं, घने-घुँघराले केशों से घनिष्ठ होते हुए भी उनका उन्मुक्त ललाट मेघमुक्त क्षितिज-सा है, उनकी भौंहे नीले भुजंग की तरह लीलायित हैं, उनकी सुगठित उन्नत नाक दृढ़ मंजुल विवेक-सी है, उनके अगत्स्य-पुष्प की कली जैसे होंठ प्रियतम के आह्लाद की तरह हैं, उनकी प्रीतिरंजित मुस्कान द्वितीया तिथि के चन्द्रोदय जैसा है, उनका सुन्दर चिबुक कमल-कली-सा है, उनकी चिकनी कनपटी तमालपुष्प के प्रकाश-सी है, कनपटी पर हास्य की लहरें कदम्बपुष्प के केसर-सी हैं, उनके उदार कर्णयुगल कोमल कमल के पत्तों जैसे हैं, उनकी सुढाल गर्दन अनन्त अभीप्सा-सी है, उनका प्रशस्त वक्ष हिमवन्त के उदार विस्तार-सा है, सुदीर्घ भुजाएँ निर्लिप्त आलिंगन-सी हैं, उनकी कमल की पंखुड़ियों से भी सुन्दर हथेलियाँ पूर्वराग की उष्णता-सी हैं, उनकी अँगुली की मधुर मुद्रा सिद्धि की प्रतिश्रुति जैसी है, उनकी सख़्त कमर अभय प्रदान करने जैसी है, उनके चरण कमलद्वय मोक्षानन्द जैसे हैं, उनका सुदीर्घ शरीर युगान्तर से तपस्या करने जैसा है, शरीर की दिव्यकान्ति कल्पान्तर से प्रतीक्षा के अन्त जैसी है। उनके रूप का वर्णन करने के लिए भला किस कवि के पास शब्द हैं ! उनकी वन्दना करने के लिए भला किस तपस्वी के पास भाषा है ! अतः अरे मूढ़ अहं ! उनके रूप का वर्णन करने से दूर रहो।

राम के दर्शनमात्र से मुझे मेरा अन्तःकरण दिख गया। मानो किसी ने कल्प-कल्पान्तर की नींद और जडता के मोहपाश से जगाकर कहा – 'अन्तःकरण ही मनुष्य का भाग्य और भवितव्य है। अन्तःकरण की गहराई में न केवल भाग्य, बल्कि भाग्यविधाता भी विद्यमान हैं। उन्हें ढूँढ़ने का एकमात्र मार्ग है प्रेम। बुद्धि और ज्ञान से मनुष्य वैभव और यशप्राप्त करता है। किन्तु अन्तःकरण के प्रेमभाव के बिना मनुष्य मनुष्य से दूर होकर पत्थर बन जाता है।'

मेरे रूपाभिमान का अवशेष राम के सौन्दर्य का अवलोकन करके समाप्त हो गया। अब समझ में आया कि सौन्दर्य देहगत नहीं होता। सौन्दर्य की व्याप्ति अणु से परमाणु तक होती है। सौन्दर्य बन्धन नहीं मुक्ति है, सौन्दर्य मोह नहीं मोक्ष है। मेरा समस्त जन्म तमालवर्णी राममय, भावमय, रमणीय होने लगा है। पाप, शाप, ताप, जरा, मृत्यु का भय भी भयभीत हो हाथ जोड़े खड़ा है।

आ रहे हैं दो तेजस्वी कान्तियुक्त किशोर। उन दोनों के बीच एक प्रवीण तापस पुरुष। छोटे किशोर का मुख कदम्ब फूल के केसर की तरह पीतवर्ण, स्वर्णाभ अंग, देदीप्यमान् आँखें। वह विवेक की तरह स्थिर, गम्भीर, निःस्वार्थी लग रहा है।

* * *

ब्रह्मस्वरूप विवेक और सद्ज्ञान-सम्पन्न राम के दर्शन से आज मैं सचमुच अहल्या हूँ, जो सत्य, ऋत, दीक्षा, तपस्या, ब्रह्म और यज्ञ से परिपुष्ट है।

यह मैं क्या देख रही हूँ ! ब्रह्मस्वरूप राम मुझे भूमि से उठाकर मेरा चरणस्पर्श कर रहे हैं। अपने उदार गैरिक वसन से मेरे भस्माच्छादित शरीर से धूल पोंछ रहे हैं। ऐ स्पर्श ! तेरे कितने रूप हैं – कितने आकर्षण हैं ! जीवन में न जाने कितने स्पर्श मुझे मिले हैं, तो फिर स्पर्शरहित कैसे हुई ? तो क्या स्पर्श का सत्यरूप अब तक मुझसे छिपा था? जितने भी स्पर्श मिले थे, क्या वे सभी स्पर्श के छलपूर्ण रूप थे?

ऐ स्पर्श ! तुम कभी छली होते हो – तो कभी विश्वसनीय !

जननी के स्पर्श से वंचित मैं अहल्या; किन्तु जन्मभूमि का स्पर्श कितना उदार-निःस्वार्थ है – यही है मेरी जननी। मुझे मिला है पिता का स्पर्श, निःस्वार्थ होने पर भी कठोर – वह था अनुशासन का स्पर्श। मिला है पति गौतम का स्पर्श-प्रेमहीन, शीतल सन्देहभरा स्पर्श। उसमें प्रतिस्पर्श की प्रतीक्षा नहीं थी। मिला है अपनी सन्तानों का विशुद्ध उदार स्पर्श। वह था छोटे-से घेरे के बन्धन में जकड़कर पकड़े रहने का स्पर्श। वह बन्धन मुक्ति की ओर बढ़ने को प्रेरित करता था – प्रेरित करता था सत्यकाम को गोद में उठा लेने के स्पर्श के लिए। और मिला था देवाधिपति इन्द्रदेव का स्पर्श ! वह स्पर्श था स्वार्थपूर्ण, कामनापूर्ण और भ्रान्तिपूर्ण।

ऐ स्पर्श ! तू पागल भी बना सकता है और पत्थर भी !

इन्द्र के स्पर्श ने मुझे पागल बना दिया था – गौतम के स्पर्श ने पत्थर। मुझे वात्सल्य का स्पर्श मिला, काम का स्पर्श मिला, अनुशासन का स्पर्श मिला, परन्तु प्रेम का स्पर्श तो नहीं मिला ! उसके बिना क्या आज मैं अवांछित जड-पत्थर हूँ !

* * *

ऐ स्पर्श ! आज तुम मुझे यह कैसी दुर्लभ उपलब्धि दे रहे हो ! राम के स्पर्श से आज पत्थर पिघल रहा है, बहने लगा है बंजर वनभूमि को उर्वरा करते हुए, अब वर्षा का क्या प्रयोजन ? अब इन्द्र की प्रतीक्षा क्यों है ? इतने दिनों से अहल्या जिस स्पर्श की प्रतीक्षा में एकाकी औंधी पड़ी थी, उसी प्रेम के स्पर्श से अहल्या का एक-एक देहकोष पिघलकर उसके हृदय को उन्मुक्त करता जा रहा है – उसकी आत्मा के मधुकोश से उफन-उफनकर बह रहा है राममधु-प्रेममधु। लेन-देन भरे देहमय जीवन को मिटाकर मैं विदेह बनती जा रही हूँ। उनके अलावा आज मैं और किसी का भी प्रतिस्पर्श नहीं हूँ। वायुभक्षण करके, लोगों की आँखों से ओझल जडवत् पड़ी रहने वाली परित्यक्त अहल्या ने परम प्रिय राम के स्पर्श से झुर्रीदार शरीर की चौहद्दी से परे अभिनव यौवन प्राप्त किया है – ऊपर उठ गई है राग, द्वेष, जरा, व्याधि, मृत्यु से – प्रेम के अमरत्व तक, घृणित सन्देह की खाई से विश्वास के अनन्त आकाश तक। मैं विमोचित हो गई राम के स्पर्श से। सारी जडता टूट गई। मैं पाप-विस्मृत यज्ञमयी अहल्या हो गई। मैंने राम-लक्ष्मण दोनों भाइयों को बाँहें पसारकर अपनी छाती से लगा लिया। रोमांचित हो उठा मेरा सर्वांग, शाप की बेड़ियाँ खन्न से टूट गईं। चारों ओर दिव्य प्रकाश की बाढ़ आ गई। ऊर्ध्वचेतना में अमृत-स्वर बज उठा था।

अपने शरीर की धूल राम के शरीर से पोंछने के लिए मैंने हाथ बढ़ाया ही था कि उन्होंने मेरे तपोक्लिष्ट शीर्ण हाथ को सहलाते हुए कहा, "रहने दो देवि ! यह धूल मेरे कठोर अनुशासित यात्रा पथ का पाथेय है। आर्यावर्त्त के इस छोर से उस छोर तक यह तपोस्निग्ध धूमार्चित रेणु छिड़क-छिड़ककर मैं इस पृथ्वी को पवित्र करूँगा। यह अहल्या की पार्थिव पदधूलि नहीं है, यह है अहल्या की चेतनापूर्ण हृदय-रेणु।"

शीर्ण शिराओं भरे मेरे जराग्रस्त हाथों और शरीर में नव बसन्त का रोमांच था। अब मैं शक्तिहीन अबला नहीं थी। मेरा देहबोध तिरोहित हो गया, आत्मा जाग उठी। अतः आज मैं अनन्त यौवनवती हूँ। राम की आँखों में मैं देख रही हूँ अथाह ऐश्वर्य। वहाँ इन्द्र क्षुद्रापि क्षुद्र लग रहे हैं।

परम आत्मविश्वास से बोली, "हे धीमान् ! यह स्मृति कल्प-कल्पान्तर जागरूक रहेगी। आपकी यात्रा शुभ हो।"

मेरा गला भर आया। जिन्होंने शुभंकर होने का व्रत ले रखा है, भला उन्हें मैं क्या शुभेच्छा दूँ ?

राम का मधुर स्वर मेरे कानों में अमृत बरसा रहा है :

"यौवन और जरा को अतिक्रम करके आज से तुम्हारी राह पर प्रीति के फूल खिल उठें – तुम्हारी साँसों से धूने और अगरू चन्दन की सुगन्ध फैल जाए पृथ्वी और आकाश में – वह सुगन्ध भेद जाए चैतन्य के अभ्यन्तर को, तुम्हारे स्पर्श से टूट जाए विषादित जडता व्यर्थ मनोरथ मनुष्य की छाती से। पत्थर पिघलकर नदी बन जाए तुम्हारे शुभ दृष्टिपात से, हिंसा, द्वेष, भेद-भाव मिट जाएँ तुम्हारे आलिंगन की स्निग्धता से, जीवन बन जाए जिज्ञासा, मृत्यु हो जाए अमर तुम्हारी प्रेरणा से। पुण्य की शंखध्वनि दुन्दुभित हो उठे तुम्हारे सम्बोधन से।

"तुम जो रास्ता पीछे छोड़ आई हो, उस पर अपने कीचड़ भरे पदचिह्न ज़रा ढूँढ़ो – न जाने कबके मिट चुके हैं तुम्हारी तपस्या से। हे वरनारी अनसूया अहल्या ! तुम्हारा प्रायश्चित्त तुम्हारे पाप को, इस पृथ्वी के पाप को, इन्द्र के पाप को और गौतम के अतिवादी आदर्श के अहंकार को लीलकर पुण्य की वैजयन्ती फहरा रहा है। तुम स्वयं थी अपना बन्धन – तुम्हीं हो अपनी मुक्ति। पुण्य और मुक्ति की इस माहेन्द्र घड़ी की केवल इन्द्र और गौतम ही नहीं, राम भी प्रतीक्षा कर रहे थे।"

"हे राम ! राम के स्पर्श के बिना अहल्या अहल्या नहीं है।"

"देवि ! अहल्या के स्पर्श के बिना राम 'राम' नहीं हैं। 'अहल्या' ने दी है राम को प्रेम की उपलब्धि, अहल्या ने दी है राम को जीवन की विदग्ध अनुभूति। जगत् को निष्कपट, निष्काम चाहने का रमणीय मन्त्र अहल्या के रग-रग से उच्चरित होकर राम के यात्रा-पथ को पावन कर रहा है।"

"हे राम ! तुम्हारे स्पर्श की गहराई और विश्वसनीयता से आज मेरा उद्धार हो रहा है। अतः तुम्हारे समक्ष अपना पाप स्वीकार करने में मेरा छल क्षत-विक्षत नहीं हो रहा। गौतम और इन्द्र मेरे पाप के कर्त्ता नहीं हैं, अपने पाप की कर्त्ता-धर्ता मैं स्वयं हूँ। देह की निर्लज्ज क्षुधा से अपनी देह और आत्मा को मैंने पंकिल बना लिया था। सोचा था, देह ही मेरा अभाव है – लेकिन देहभोग से वह अभाव दूर नहीं हुआ, न ही लालसा की मृत्यु हुई। यदि देह का अभाव मेरे दुःख का कारण था, तो देह-संगम से मेरी आत्मा हाहाकार क्यों कर रही थी? यह सच है कि देह के भोग को प्रेम का नाम देकर मैं आत्म-प्रवंचना से बहुत समय तक बची रही, किन्तु मैंने देखा कि उस छल भरे जीवन से मन भर भले ही रहा है पर भूख-प्यास कहाँ मिट रही है ? आज तुम्हारा दर्शन होते ही मेरी सारी भूख मिट गई। देह की, मन की, आत्मा की। इस महातृप्ति के दाता तुम हो।

"हे राम ! मेरे आकाशव्यापी पाप से केवल मैं ही नहीं, सारा जगत् कलंकित हो गया था। इसीलिए आज यह विकराल अकाल है। अन्न के लिए चारों ओर हाहाकार मचा है ! अहल्या अपने पाप से भले ही दब जाए, लेकिन जगत् के ललाट से कालिख पोंछकर अपनी करुणा की वारिधारा उड़ेल दो हे राम ! अहल्या की समाधि पर प्रीति का पंकज खिल उठे। वही तुम्हारे चरण-कमल में अर्घ और अहल्या का मोक्ष हो। मुझे और कोई मोक्ष नहीं चाहिए।"

"देवि पावनि ! अपना पापबोध त्यागो ओर उठो। संसार में असंख्य पापी हैं – परन्तु प्रायश्चित्त विरल है। प्रायश्चित्त के अश्रुजल में बार-बार स्नान करके तुम तो बहुत पहले ही पवित्र हो चुकी हो। तुम्हारे आत्मानुभव ने

तुम्हें मोक्षदान दिया है। तुम पापमुक्त नारी हो। अतः अपनी हीनता त्यागकर नवराग से रंजित कर दो स्वयं को और जगत् को।"

"हे राम ! तुम्हें अहल्या को कुछ नहीं देना है। किन्तु अहल्या के पास ऐसा कौन-सा अपार्थिव धन है कि तुम्हें देकर कृतज्ञता ज्ञापित करे ? मेरे पास तो केवल हृदय का अकलुष प्रेम ही है। उस प्रेम की परिभाषा तुम्हीं जानते हो। यदि उतना ही स्वीकार कर लो तो अहल्या कृतार्थ हो जाएगी।"

"देवि ! तुम्हारा अपार्थिव प्रेम मैं स्वीकार कर चुका हूँ। इसीलिए आज मैं केवल राम नहीं रहा– मैं रमणीय मार्ग पर यात्रा प्रारम्भ कर रहा हूँ। तुम्हारी पवित्र स्मृति मुझे युग-युग तक जागरूक रखेगी और पुण्य की प्रेरणा देगी।"

"हे राम ! तुम परम आदर्श पुत्र बनो – परम प्रेमी पति बनो – परम निःस्वार्थ भ्राता बनो – परम विचारशील पिता बनो – परम शुभाकांक्षी मित्र बनो – परम करुणामय शत्रु बनो ! परम धार्मिक राजा बनो ! तुम शुभंकर बनो, सुखी रहो – दुःख तुमसे सदा दूर रहे।"

"देवि ! बिना दुःख के सुख की उपलब्धि कहाँ होती है ? बिना संघर्ष के कौन शुभंकर बना है ? तुम्हारे दुःख ने ही तो तुम्हें आनन्द की उपलब्धि कराई है। अतः मेरे दुःख के लिए कातर क्यों हो ? तुम्हारी शुभेच्छा से मैं दुःख और संघर्षमय जीवन वरण कर रहा हूँ। तुम्हारी सदिच्छा से दुःख को अतिक्रम करके आदर्श स्थापित करने की प्रेरणा इकट्ठा कर रहा हूँ।"

"हे राम ! तुम दुःख से नहीं घबराते – अतः तुम्हें पार्थिव सुख के प्रतिदान में आनन्द की उपलब्धि होगी। तुम संघर्ष से नहीं घबराते – अतः विलासिता के प्रतिदान में तुम विजय प्राप्त करोगे। हे राम ! तुम प्रेममयी सती नारी के पति बनो।

तुम्हारा दाम्पत्य सु-रत हो। तुम पत्नी से कभी अलग न होवो। अलग होने का दुःख मैं जानती हूँ – जानते हैं गौतम।"

"विरह है प्रेम की कसौटी। विरह के बिना प्रेम की उपलब्धि कहाँ – विरह के बिना मिलन का महोत्सव कहाँ ! पार्थिव दूरी, लौकिक विरह क्या कभी अपार्थिव मिलन के लिए बाधक बन सकता है ? दो शरीर दूर-दूर होने पर भी यदि आत्मा अविच्छिन्न हो, तो विरह ही मिलन को बनाता है महिमामय। हे प्रेम की देवि ! तुम्हारे विरह ने ही आज तुम्हें प्रेम की उपलब्धि करायी है। तुम्हारे तपोनिष्ठ विरह ने तुम्हारे परम विश्वासी पति गौतम के एक पत्नीव्रत को सफल करके महामिलन की घड़ी को प्राप्त किया है। अतः आज तुम्हारा दर्शन करके मैं विरह से नहीं डरता। मेरे यात्रा-पथ में यदि कभी कोई दुःख आया, विरह आया, पार्थिव सुख से वंचित रहने का महार्घ अवसर आया, तो तुम्हारा ही स्मरण मुझे शक्तिमय करेगा– मुझे धीरे से कहेगा – "अपार्थिव को पाने के लिए पार्थिव की बलि देनी होगी।"

"हे राम ! बिना अनुभव के भी तुम अनुभवी हो। बिना जानकारी के भी तुम जानकार हो। गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए बिना भी तुम विशाल विश्व के गृहस्थ हो। तरुण होते हुए भी विचारों में प्रवीण हो। ब्रह्मचारी होते हुए भी तुम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की उपलब्धि से सराबोर हो। पृथ्वी की सन्तान होते हुए भी तुम्हारी कीर्ति अपार्थिव है। मनुष्य होते हुए भी तुम अलौकिक व्यक्तित्व वाले हो। मर्यादा पुरुषोत्तम होने के कारण तुमने अहल्या की मर्यादा बचाई है। राम के स्पर्श से केवल अहल्या ही धन्य नहीं हुई, पृथ्वी माता भी धन्य हुई हैं। तुम्हें प्रणाम !"

यह क्या कर रहे हैं राम ? मनोरम कर जोड़कर किसे प्रणाम कर रहे हैं ? विनम्र मधुर कण्ठ से कह रहे हैं, "देवि अहल्या ! धन्य है तुम्हारी व्रतनिष्ठा, धन्य है तुम्हारी तपस्या। राम तुम्हें प्रणाम करता है।"

अमृत बरस रहा है मेरे चैतन्य में। 'सिद्धि' हाथ जोड़े खड़ी है और भी प्रशस्ति सुनने के लिए ? मृदुस्वर में उसकी भर्त्सना की मैंने, "दूर हो जा मेरे सामने से। जिसने राम के दर्शन कर लिए, क्या उसमें सिद्धि की चाहत रह जाती है। राम के सामने आज तू कितनी छोटी लग रही है !"

सिद्धि की अवमानना भला राम कैसे सहेंगे ? मधुर कण्ठ से बोले, "तुम्हारा पवित्र अहल्या रूप देखकर मैं धन्य हो गया। बहुत दुःख-लांछन सहे हैं तुमने। अपराध की तुलना में दण्ड तीव्र था, दण्ड की तुलना में तपस्या कठोर थी – तपस्या की तुलना में मोक्ष तुच्छ है। फिर भी मोक्ष तुम्हारे सम्मुख करबद्ध खड़ा है। उसे स्वीकार करो देवि।"

"तुम्हारे दर्शन से जो महाभाव मेरे अन्दर जाग्रत् हुआ है, वही अहल्या का मोक्ष है" भाव भरे स्वर में मैंने कहा।

"पृथ्वी पर जन्म लेने से अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। तुमने वह सब सहा है। यह पृथ्वी तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम्हें ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, विष्णुलोक, जहाँ भी चाहोगी स्थान मिल जाएगा।"

राम के मुँह से अभी बात समाप्त भी नहीं हुई थी कि देखा, पिता ब्रह्मा, विष्णु, महेश और इन्द्र अपने-अपने वाहन से उतरकर आ रहे हैं। सर्वलोक से फूल बरस रहे हैं। मेरे जराग्रस्त दुबले-पतले पति गौतम भी आ गए। सभी मन्त्रमुग्ध हो राम का दर्शन कर रहे हैं। विमुग्ध हो देख रहे हैं अहल्या की सिद्धि – शापमुक्ति।

तपती धरती पल्लवित हो उठी। उजाड़ आश्रम में आनन्द का कोलाहल गूँज उठा। रुद्राक्ष, ऋचा, तक्षक, कर्कोटक आदि निर्भय हो आश्रम में प्रवेश करके राम को प्रणाम कर रहे हैं। सभी को मेरे उत्तर की प्रतीक्षा है। किस लोक को मैं धन्य करूँगी, यह सुनने को व्यग्र हैं सभी।

मैंने कहा, "हे रमणीय राम ! मैं अहल्या पृथ्वी हूँ। पृथ्वी ने न जाने कितने संघर्ष सहे हैं ! रक्तक्षरण किए बिना भला कभी कोई जननी बनी है ! किस फलदार वृक्ष ने पत्थर की मार नहीं सही, आँधी-तूफ़ान का सामना नहीं किया ? क्या आँधी के डर से वृक्ष माटी का त्याग कर सकता है ? यदि त्यागेगा तो उखड़ा हुआ वृक्ष न माटी का हो

सकेगा, न ही आकाश का ! वृक्ष मेरे गुरु हैं। आँधी-तूफ़ान के आघात से धराशायी वृक्ष मूलभूमि को तब भी पकड़े हुए फल, फूल देता रहता है जगत् को। मैं अपनी माटी छोड़कर स्वर्ग की आकांक्षा क्यों करूँ ? मैं संघर्षहीन मोक्ष नहीं चाहती। इसी संघर्षमय संसार में रहकर अशान्ति में प्रशान्ति, मिथ्या में सच, निःऋत में ऋत, भोग में भाव, विघ्न में शुभ ढूँढ़ना ही मेरा मोक्ष है। मैं मर्त्यमानवी हूँ। साधनाहीन, संघर्षहीन स्वर्गलोक मुझे तपस्या का अवसर नहीं देगा। ऐसे में जीवन का क्या मूल्य ? दुःख जर्जरित पृथ्वी को छोड़कर अपने स्वार्थ के लिए स्वर्गलोक प्राप्त करके केवल सुख भोगना मोक्ष नहीं है। यह मृत्युलोक ही मेरी कर्मभूमि है, सिद्धिभूमि है।"

राम ने हाथ जोड़कर पुनः कहा, "देवि ! तुम्हारा अन्तर्यज्ञ समाप्त हो चुका है। विश्व को सुवासित करने के लिए तुम पवित्र हविः बन चुकी हो। तुम्हारी आत्मा जाग उठी है। तुम विश्व-चेतना में समाकर विशाल हो उठी हो। शतसहस्र मृत्यु में तुमने अमरत्व घोषित किया है। देहमयता का विनाश करके तुमने मोक्षानन्द प्राप्त किया है। आज से तुम मोहबन्धन मुक्त हो। सर्वलोक के द्वार तुम्हारे लिए खुले हैं। तुम्हारे अपने ही अन्दर मोक्ष विराजमान् है, तो फिर तुम्हें मोक्ष कौन देगा ? तुम स्वयं ही अपनी कर्मभूमि और राह चुन लो।"

ब्रह्मलोक से ब्रह्मा का वेदपूत हाथ, विष्णुलोक से विष्णु का अभयकारी हाथ, शिवलोक से शिवजी का मंगलकारी हाथ, इन्द्रलोक से इन्द्र का दानकारी कृतांजलिबद्ध हाथ बढ़ने लगे थे मेरी ओर। हर दिशा से दुन्दुभित हो रहा है – 'आओ – आओ – रथ तैयार है ! धन्य करो देवभूमि को ... प्रणाम स्वीकार करो देवि।'

अपने प्रार्थनारत हाथ उठाकर भिक्षा माँगी, "ब्रह्मलोक से आध्यात्मिक चेतना, विष्णुलोक से एकाग्रता, शिवलोक से शुभ संकल्प, इन्द्रलोक से आत्म-ऐश्वर्य प्रदान करो प्रभो, मेरी इस दुःख जर्जरित पृथ्वी के लिए। अन्नहीन, भूखी, विपन्न पृथ्वी को सम्पन्न करें अपनी सदिच्छाएँ उड़ेलकर। ... यही है मेरी प्रार्थना।"

'तथास्तु, तथास्तु' शब्द से मन्त्रित हो उठी तपोभूमि। परन्तु सबके बढ़े हुए हाथ अब भी मेरी प्रतीक्षा में थे। किसका वरण करूँ ?

जगत् की यही रीति है। जब शापग्रस्त हो पड़ी थी तब सर्वलोक के द्वार मेरे लिए बन्द थे। प्रलयकाल में किसी ने नहीं दिया था आश्रय। कोई मेरे दुःख से दुखी नहीं हुआ। अहल्या का कलंक गूँज उठा था सर्वलोक में। आज का यह आडम्बरपूर्ण स्वागत अहल्या के लिए नहीं है, अहल्या की सिद्धि के लिए है। सिद्धि प्राप्ति करने के क्षणभर पहले कहाँ थे ये सभी ? मैं जानती हूँ कि अहल्या शापमुक्त हो चुकी है राम की उदार चेतना के उद्घोष से। किन्तु क्या अहल्या कलंकमुक्त है ? किसी भी लोक में जाने से क्या इन्द्र-अहल्या वृत्तान्त विस्मृत हो जाएगा जनमानस से ? मस्तक पर मणि के समान मेरा कलंक हमेशा हहाकार जल रहा होगा मेरी मृत्यु के बाद भी। अहल्या की महानता नहीं, बल्कि राम की ही महानता प्रतिपादित हुई है आज। महानुभाव राम की करुणा और विवेक-पूर्ण निर्णय प्राप्त करने के कारण ही आज मेरी चर्चा हो रही है। तो फिर क्यों जाऊँ अपनी तपस्या भूमि छोड़कर ? मेरी तपस्या अभी समाप्त नहीं हुई है ...।

मैंने हाथ जोड़कर सबको प्रणाम किया। उनसे विनती की, "स्वर्ग की आकांक्षा करना भी एक प्रलोभन है। अहल्या को और प्रलोभित न करें ... अहल्या के मन में असीम स्पृहा जाग उठी है – अतः वह निर्लिप्त है।"

महाभाव के बारम्बार हविःदान से देवतागण उतरने लगे हैं आश्रम के प्रांगण में। यह महाभाव ही तो अमृत है। तो फिर अब किस अमृत का प्रलोभन बचा है !

तमाल फूल समझकर मधुमक्षिका राम के मनोरम ललाट पर बैठी मधुसंग्रह कर रही है। ओफ्फ ! राम को कष्ट हो रहा होगा। मधुमक्षिका के दुस्साहस के लिए उसे अभिशाप देने ही वाली थी कि रुक गई। राम मृदु-मृदु मुस्करा रहे थे। यदि मधुमक्षिका राम्मधु एकत्र कर रही है तो वह जगत् को वितरण करने के लिए कर रही है। इसलिए राम उस कष्ट को हँसते हुए सह रहे हैं। मैं स्वार्थी-सी निष्काम कर्मयोगी मधुमक्षिका को अभिशाप क्यों दे रही थी ? वैरागी और परोपकारी मनोभाव के कारण राम परमात्मा की तरह लग रहे हैं पर मर्त्य ही उनकी कर्मभूमि है। तो फिर अहल्या स्वर्ग की आकांक्षा क्यों करे ? यह मर्त्यलोक ही अहल्या की कर्मभूमि है। जहाँ राम हैं – वहीं अहल्या है।

हे प्रिय अमिट कलंक ! तुम मुझसे जुड़े रहोगे तो मैं राम को नहीं भूल पाऊँगी, तपस्या नहीं भूल पाऊँगी। इसलिए कलंक के लिए अब पछतावा नहीं है।

फिर भी सर्वलोक से अहल्या का आह्वान करने वाले हाथ बढ़े हुए हैं। किन्तु गौतम चुप क्यों हैं ? मुग्ध विभोर अपलक आँखों से देख रहे हैं मेरी ओर। जब नववधू थी, तब ऐसी प्रेम विह्वल दृष्टि नहीं देखी थी गौतम की। ऐसी प्रीतिमुग्ध दृष्टि की दिन-रात प्रतीक्षा में निराश ही हुई हूँ। आज अब तपोदग्ध जराग्रस्त अहल्या में ऐसा कौन-सा सौन्दर्य है कि गौतम मुग्ध हैं ?

"आओ, आओ देवि ... रथ तैयार है ! धन्य करो हमें !"

इस आह्वान का अन्त नहीं था। किन्तु गौतम की विदाई मुद्रा क्यों है ? हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहे हैं मुझे जो कभी उनकी शिष्या थी, जिसका कभी स्खलन हुआ था, जो उनके द्वारा वर्जित थी, अभिशप्त थी ... जिसने विवाह व्रत तोड़ा था, उसी को पतिदेव का प्रणाम ?

अस्पष्ट भाषा में कह रहे हैं, "देवि ! प्रणाम। तुम्हारी तपस्या की सिद्धि ने मुझे राम के दर्शन का महार्घ अवसर दिया है। तुम्हारा अपार्थिव सौन्दर्य आज राम-दर्शन की तरह प्रीतिकर है। यौवन में तुम्हारे रूप का जयगान नहीं किया। रूप का जयगान सौन्दर्य की अवमानना करता है। किन्तु आज तुम्हारे अपार्थिव सौन्दर्य का जयगान करने में गौतम ऋषि को कोई झिझक नहीं। सर्वलोक के द्वार तुम्हारे लिए खुले हैं। आज तुम गौतम के अनुशासन से मुक्त हो। इस जन्म में इतनी ही है हमारी पार्थिव मुलाक़ात। विदा ले रहा हूँ।"

मैंने हतप्रभ हो सोचा – 'विदाई क्यों ? अहल्या की यह सिद्धिभूमि गौतम के लिए तो निषिद्ध नहीं है ? क्या गौतम अहल्याश्रम में अहल्या के पति बनकर नहीं रह सकते ? क्या सर्वलोक में मान्य पत्नी का पत्नीत्व के अधिकार से वंचित होना नारी की नियति है ? क्या मेरे यश और प्रतिष्ठा से गौतम विचलित हो उठे हैं ? मेरे पाप ने मुझे गौतम से दूर कर दिया था, अब मेरी सिद्धि मुझे गौतम से अलग कर रही है। पाप की तरह सिद्धि भी नारी के लिए कितनी कठोर है ! अब मैं चपल अभिमानी अहल्या नहीं हूँ। मेरा शरीर नारी का है – आत्मा तो मुक्त है। मैं शरीरसर्वस्व अहल्या नहीं हूँ, अतः नारीसुलभ वृथाभिमान का क्या मूल्य ?" मैंने स्पष्ट स्वर में प्रश्न किया, "स्वामिन् ! आप ही के कारण मिली है अहल्या को यह प्रतिष्ठा। आपका अभिशाप ही मेरा वरदान है। क्या अब भी अहल्या का कलंक नहीं धुला ? इसीलिए आप मेरी उपेक्षा कर रहे हैं ?'

गौतम के कातर स्वर ने मुझे मुग्ध-चकित कर दिया। उन्होंने कहा, "तुम कभी भी उपेक्षा की पात्र नहीं थीं। उपेक्षा करता तो तुम्हें इतना बड़ा शाप देकर स्वयं शापग्रस्त न होता। तुम्हारी 'सिद्धि' आज सर्वत्र दुन्दुभित हो रही है। मेरी तपोसिद्धि अब तक भी घोषित नहीं हुई है। अतः अहल्याश्रम में गौतम के लिए स्थान कहाँ ?"

कठोर, क्रोधी, तर्कवागीश मेरे वयस्क पति गौतम में कहाँ छिपा था यह कोमल किशोर ? यह कैसा अनिर्वचनीय सौन्दर्य है प्रेमाभिमान का ?

मधुर उत्कण्ठा से मैंने पूछा, "किस पाप का प्रायश्चित्त ? कौन करेगा सिद्धि की घोषणा ?"

"क्या क्रोधी, कठोर गौतम पति के रूप में अहल्या को स्वीकार्य है ? तुम्हें अभिशाप देकर गौतम भी अहल्याभ्रष्ट हो गया था। अहल्या को पुनः पाने के लिए गौतम के प्रीतियोग ने सिद्धि प्राप्त की है या नहीं, यह केवल अहल्या ही बता सकती है।"

गौतम पति के रूप में मुझे स्वीकार्य हैं या नहीं, यदि यह प्रश्न मुझसे पहले कभी पूछा गया होता तो सम्भवतः मैं गौतम को अस्वीकार कर देती। जो पति मेरी दुर्गति का कारण हैं, शापदाता हैं एवं मेरे प्रति निःस्पृह हैं, उन्हें अस्वीकार करने की छूट मिली होती तो मेरे समस्त सन्ताप दूर हो जाते। लेकिन राम के दर्शन के बाद मन में अब किसी के प्रति आक्रोश नहीं है। जो कुछ घटित हुआ, उससे स्वयं को अलग करके दूसरों को किस तरह दोषी ठहरा सकती हूँ। अपनी सिद्धि के लिए भी मन में अहंकार नहीं जाग रहा। प्रायश्चित्त अहंकारयुक्त हो तो मन पापमुक्त कैसे होगा ?

गौतम मेरे अनुमोदन की प्रतीक्षा में सिर झुकाए खड़े हैं। मेरी जरा अन्तर्हित है। मेरी आत्मा स्पन्दित है। मैंने कहा, "स्वामिन् ! अहल्या की सिद्धि गौतमकृत है। अतः अहल्या की सिद्धि गौतम की ही प्रतीक्षा कर रही है।"

इतने में नारद भैया हम दोनों के बीच अवरुद्धक की तरह आकर खड़े हो गए और गम्भीर स्वर में बोले, "सिद्धि-भूमि पर ऋषि का क्या काम ? रामार्पित अहल्या को अब गौतम की क्या आवश्यकता ? आर्यावर्त्त में

हजारों-हजार मुनियों, ऋषियों, सिद्धपुरुषों के निष्काम साधना करने पर भी इतना हाहाकार, बुभुक्षा, वृष्टिहीनता क्यों है ? मेरा अनुभव कहता है कि निष्काम साधना, निष्कर्म साधना के कारण ही पृथ्वी पर इतनी बुभुक्षा और अनाहार है। ऋषिगण दूसरों के श्रम से अर्जित अर्थ और अन्न की भीख माँगकर आश्रम में जीवन व्यतीत करते हैं इस कारण सम्भवतः पृथ्वी का काफी हिस्सा जुते बिना शस्यहीन पड़ा है। गृहस्थ जीवन के अनुभव के बाद ऋषिगण गृह त्यागकर अरण्य में शास्त्र-अध्ययन और यज्ञकार्य करते हैं भिक्षावृत्ति पर निर्भर करके। गृहस्थ जीवन के बाद पच्चीस वर्ष इसी तरह निष्कर्म योग में बीत जाते हैं। अब गौतम का वानप्रस्थ जीवन आ गया है। अब वे ग्राम से ग्राम, नगर से नगर, अरण्य से अरण्य घूम-घूमकर निष्काम कर्मयोग का सन्देश प्रचारित करेंगे, यह उन्होंने निश्चित किया है। बैलों का झुण्ड लेकर वे यायावर की तरह घूमेंगे और हल्य न हुई अनुर्वरक भूमि को जोतकर फसल उपजाने के बाद दूसरे स्थानों के लिए प्रस्थान करेंगे। एक स्थान पर दो फसल नहीं खाएँगे। उनके एक स्थान से चले जाने के बाद दूसरे लोग उस जुती हुई ज़मीन पर फसल उपजाकर समृद्ध होंगे। यह दीक्षा राजर्षि जनक से गौतम ने ली है और इस मन्त्र से उन्होंने समस्त ऋषि-मुनियों को दीक्षित करने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए अब वे अहल्या के बन्धन में नहीं रहेंगे। जनक ऋषि राजर्षि होते हुए भी भूमि जोतते हैं। भूमि जोतने के कारण भूमि से जन्मी है सीता और जनकराज को सीता जैसी कन्यारत्न मिली है। अहल्या की सिद्धिभूमि की स्वामिनी अहल्या ही बने। इससे गौतम ऋषि दुखी न होकर गर्व अनुभव करें। अब गौतम के साधना पथ पर अहल्या बाधक न हो।"

अपना शीर्ण, शिरा पूर्ण, जरा-जर्जर एक हाथ अनायास ही बढ़ा दिया गौतम की ओर। कहा, "परम अन्वेषा-पथ पर मेरे साथी बनो प्रिय ! क्या वानप्रस्थ जीवन बिताना नारी के लिए सम्भव नहीं ? यदि आप हल जोतेंगे तो मैं पसीना बहाकर भूमि को बनाऊँगी कोमल। आप कोई पौधा रोपेंगे तो मैं अपनी संवेदना उड़ेलकर उसे करूँगी पुष्पवती। आप यज्ञानुष्ठान करेंगे तो मैं समिध बन जाऊँगी। नारी के बिना पुरुष अधूरा है। पुरुष के बिना नारी अधूरी है। नारी और पुरुष के मधुर मिलन से यह सृष्टि रसमय, प्रेममय, अमृतमय है। यह मिलन देहगत नहीं है। यही है अहल्या की उपलब्धि। अहल्या अब गौतम के सिद्धिपथ पर विघ्न नहीं, प्रेरणा है। गौतम भी अहल्या के साधना-पथ पर बाधक नहीं हैं। दोनों के प्रीतियोग से यह पृथ्वी प्रेममय हो उठेगी।" तपोनिष्ठ गौतम अब भी कुण्ठित मुद्रा में जडवत् खड़े हैं।

*   *   *

अपना शीर्ण हाथ बढ़ाकर पति का वार्धक्यग्रस्त, शुष्क, कर्कश, यज्ञपूत हाथ थाम लिया मैंने। दुन्दुभित हो उठी गौतम की सिद्धि। पुलकित हुई बिजली, रोमांचित हुई वर्षा, कल्लोलित हो उठी तपती पृथ्वी। आज इस मिलन से ईर्ष्या नहीं हो रही थी इन्द्र को – इन्द्र की करुणा बरस गई ऊसर पृथ्वी की छाती पर। इन्द्र स्वयं ही वर्षादान करके स्वयं ही भीग रहे थे करुणाजल से। यह प्रेम का कैसा निष्काम, निर्लिप्त महोत्सव था ! यौवन 'भोग' पर्व था – स्वीकारक पर्व था। वार्धक्य आज समर्पण का भावपर्व था। परमानन्द से आत्मा भिगोकर गौतम का हाथ थामे बढ़ गई अनन्त यात्रा पथ पर, पीछे छूट गए इन्द्र और उनका इन्द्रलोक। आगे विपुला पृथ्वी।

❖❖❖

दुविधा

– विजयदान देथा

एक धनी सेठ था। उसके इकलौते बेटे की बरात धूमधाम से शादी सम्पन्न कर वापस लौटते हुए जंगल में विश्राम करने के लिए रुकी। घनी खेजड़ी की ठण्डी छाया। सामने हिलोरें भरता तालाब। कमल के फूलों से आच्छादित निर्मल पानी। सूरज सिर पर चढ़ने लगा था। जेठ की तेज़ चलती गर्म लू से जंगल चीत्कार कर रहा था। खाना-वाना खाकर चलें तो बेहतर। दूल्हे के पिता ने अधिक मनुहार की तो सभी बराती ख़ुशी-ख़ुशी वहाँ ठहर गए। दुल्हन के साथ पाँच दासियाँ थीं। वे सभी उस खेजड़ी की छाया में दरी बिछाकर बैठ गईं। पास ही एक विशाल बबूल था – पीले फूलों से अटा हुआ। चाँदी के समान सफ़ेद हिलारियाँ। शेष बराती उसकी छाया में बैठ गए। कुछ देर विश्राम करने के बाद खाने का इंतज़ाम होने लगा।

दुल्हन मुँह फिराए, घूँघट हटाकर बैठ गई। ऊपर देखा – पतली-पतली अनगिनत हरी सांगरियाँ ही सांगरियाँ। देखते ही आँखों में शीतलता दौड़ गई। संयोग की बात थी कि उस खेजड़ी में एक भूत का निवास था। इत्र-फुलेल की ख़ुशबू से महकते दुल्हन के उघड़े चेहरे की ओर देखा तो उसकी आँखें चौंधिया गईं। क्या औरत का ऐसा रूप और यौवन भी हो सकता है ! गुलाब के फूलों की कोमलता, ख़ुशबू और उनका रस मानो साँचे में ढला हो। देखकर भी ऐसे रूप पर विश्वास नहीं होता। बादलों का ठिकाना छोड़कर कहीं बिजली तो नहीं उतर आयी ! इन मदभरी आँखों की तो कोई उपमा ही नहीं। मानो तमाम कुदरत का रूप इस चेहरे में समा गया हो। हज़ारों औरतों का रूप देखा, पर इस चेहरे की तो रंगत ही निराली ! खेजड़ी की छाया तक चमकने लगी। भूत की योनि सार्थक हुई। दुल्हन की देह में प्रवेश करने का विचार आने पर उसे वापस होश आया। इससे तो यह तकलीफ़ पाएगी ! ऐसे रूप को तकलीफ़ कैसे दी जा सकती है ! वो असमंजस में पड़ गया। यह तो अभी देखते-देखते चली जाएगी। फिर ? न उसमें प्रवेश कर सताने को मन करता है और न छोड़े ही बनता है। ऐसा तो कभी नहीं हुआ। तो क्या दूल्हे को लग जाऊँ ? पर दूल्हे को लगने पर भी दुल्हन का मन तो तड़पेगा ही ! इस रूप के तड़पने पर न बादल बरसेंगे, न बिजलियाँ चमकेंगी। न सूरज उगेगा, न चाँद। कुदरत का सारा नज़ारा ही बिगड़ जाएगा। उसके मन में इस तरह की दया पहले तो कभी नहीं आयी। इस रूप को दुःख देने की बजाय तो ख़ुद दुःख उठाना कहीं अच्छा है। ऐसा दुःख भी कहाँ नसीब होता है ! इस दुःख के परस से तो भूत का जीवन सफल हो जाएगा।

आख़िर विश्राम के बाद तो रवाना होना ही था। दुल्हन जब उठकर चलने लगी तो भूत की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। रात में भी स्पष्ट देखने वाली आँखों के सामने यह धुंध कैसी ! सिर चढ़े सूरज की रोशनी पर अचानक यह कालिमा कैसे पुत गई।

छम-छम करती हुई दुल्हन दूल्हे के रथ पर चढ़ गई। यह दूल्हा कितना सौभाग्यशाली है ! कितना सुखी है ! भूत के रोम-रोम में मानो काँटे चुभने लगे। हृदय में जैसे आग भभक उठी। विरह की इस जलन के कारण न तो

मरना मुमकिन है और न ही जीना। जीते जी यह जलन कैसे सही जा सकती है ! और मरने पर तो यह जलन भी कहाँ ! भूत के मन में ऐसी उलझन तो कभी नहीं हुई। रथ के अदृश्य होते ही वो तो मूर्च्छित हो गया।

और उधर रथ में बैठे दूल्हे की भी उलझन कम नहीं थी। दो घड़ी हो गई मग़ज़मारी करते हुए, पर अभी तक विवाह के ख़र्चे का हिसाब नहीं मिल रहा था। बापू बहुत नाराज़ होंगे। ख़र्च भी कुछ अधिक हो गया था। ऐसी भूल-चूक होने पर वे आसानी से ख़ुश नहीं होते। हिसाब और व्यापार का सुख ही सबसे बड़ा सुख है। बाक़ी सब झमेले। स्वयं भगवान् भी पक्का हिसाबी है। हरेक की साँस का पूरा हिसाब रखता है। वर्षा की बूँद-बूँद, हवा की रग-रग और धरती के कण-कण का उसके पास एकदम सही लेखा है। कुदरत के हिसाब में भी जब भूल नहीं होती, तब बनिये की बही में भूल कैसे खट सकती है !

ललाट में बल डाले दूल्हा अंकों का जोड़-तोड़ बिठा रहा था कि दुल्हन ने रथ के पर्दे को हटाकर बाहर देखा। नज़र न टिके, ऐसी तेज़ धूप। हरे-भरे केरों पर सुर्ख़ ढालू दमक रहे थे। कितने सुहाने ! कितने मोहक ! मुस्कराते ढालुओं में दुल्हन की नज़र अटक गई। दूल्हे की बाँह पकड़कर दुल्हन अबोध बच्चे की तरह बोली, "एक दफ़ा बही से नज़र हटाकर बाहर तो देखो। ये ढालू कितने सुन्दर हैं ! ज़रा नीचे जाकर दो-तीन अंजुली ढालू तो ला दो। देखो, ऐसी जलती धूप में भी ये फीके नहीं पड़े। ज्यों-ज्यों धूप पड़ती है, त्यों-त्यों रंग अधिक निखरता है। धूप में कैसा भी रंग हो, या तो उड़ जाता है या साँवला पड़ जाता है।"

दूल्हा इंसान जैसा इंसान था। न अधिक सुन्दर और न अधिक कुरूप। विवाह तो भरी जवानी में ही हुआ था, पर उसे कोई ख़ास ख़ुशी नहीं हुई। पाँच बरस बाद होता तो भी चल जाता और हो गया तो भी अच्छा। कभी न कभी तो होना ही था। बड़ा काम निपट गया। नौलखे हार पर हाथ फिराते बोला, "ये ढालू तो ठेठ गँवारों की पसंद है। तुम्हें इसकी ख़्वाहिश कैसे हुई? खाने की इच्छा हो तो गाँठ खोलकर छुहारे दूँ, नारियल दूँ। जी भरकर खाओ।"

दुल्हन भी निपट गँवार निकली। हठ करती हुई-सी बोली, "नहीं, मुझे तो बस ढालू ला दो। आपका अहसान मानूँगी। आप तकलीफ़ न उठाना चाहें तो मुझे इजाज़त दें, मैं तोड़ लाती हूँ।"

दूल्हे ने तो फिर वही बात की। कहा, "इन काँटों से कौन उलझे ? जो एकदम जंगली होते हैं, वे ही ढालू तोड़ते हैं और वे ही खाते हैं। मखाने खाओ, बताशे खाओ। चाहो तो मिश्री खाओ। इन निंबोलियों व ढालुओं की तो घर पर बात ही मत करना। लोग हँसेंगे।"

"हँसने दो।" दुल्हन तो यह बात कहकर तुरन्त रथ से कूद पड़ी। तितली की तरह केर-केर पर उड़ती रही। कुछ ही देर में ओढ़नी भरकर सुर्ख़ ढालू ले आयी। घड़े के पानी से उन्हें अच्छी तरह धोया। ठण्डा किया। होंठों और ढालुओं का रंग एक-सा, पर दूल्हे को न ढालुओं का रंग अच्छा लगा, न होंठों का। वो तो हिसाब में उलझा हुआ था। दुल्हन ने काफ़ी निहोरे किए, पर वो ढालू खाने के लिए राज़ी नहीं हुआ।

दुल्हन ने कहा, "आपकी इच्छा। अपनी-अपनी पसंद है। मेरा तो एक बार मन हुआ कि इन ढालुओं के बदले नौलखा हार केर में टाँक दूँ, तब भी कम है।"

ढालू खाती दुल्हन के चेहरे की तरफ़ देखकर दूल्हा कहने लगा, "ऐसी बेवकूफ़ी की बात फिर कभी मत करना। बापू बहुत नाराज़ होंगे। वे रूप की बजाय औरतों के गुणों का अधिक आदर करते हैं।"

दुल्हन मुस्कराती-सी बोली, "अब मालूम हुआ, उनके डर से ही आप हिसाब में उलझे हुए हैं। पर सारी बातें अपनी-अपनी जगह शोभा देती हैं। विवाह के समय हिसाब में फँसना, यह कहाँ का न्याय है?"

दूल्हे ने कहा, "विवाह होना था, सो हो गया। पर हिसाब तो अभी बाक़ी है। विवाह के ख़र्च का सारा हिसाब संभलाकर ठीक तीज के दिन मुझे व्यापार के लिए दिसावर जाना है। ऐसा शुभ मुहूर्त फिर सात बरस तक नहीं है।"

पर गँवार दुल्हन को इस शुभ मुहूर्त की बात सुनकर रत्ती भर भी ख़ुशी नहीं हुई। बात सुनते ही ढालुओं का स्वाद बिगड़ गया। लगा, जैसे कोई दिल को दबाकर ख़ून निचोड़ रहा हो। यह कैसी अनहोनी बात सुनी ! इकबारगी विश्वास ही नहीं हुआ। पूछा, "क्या कहा ! आप व्यापार की ख़ातिर दिसावर जाएँगे ? सुना है, आपकी हवेली में तो दौलत के भण्डार भरे हैं।"

दूल्हा गुमान भरे स्वर में बोला, "इसमें क्या शक है ! तुम ख़ुद अपनी आँखों से देख लेना। हीरे-मोतियों के ढेर लगे हैं। पर दौलत तो दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ती रहे, तभी अच्छा है। व्यापार तो बनिये का पहला धर्म है। अभी तो दौलत बहुत बढ़ानी है। ऐसा बढ़िया मुहूर्त कैसे छोड़ा जा सकता है!"

दुल्हन ने फिर कोई बात नहीं की। बात करने से मतलब ही क्या था ! एक-एक करके सारे ढालू बाहर फेंक दिए। दूल्हे ने मुस्कराकर कहा, "मैंने तो तुम्हें पहले ही कह दिया था कि ये ढालू तो गँवारों के खाने की चीज़ है। अपन बड़े आदमियों को ये अच्छे नहीं लगते। आख़िर खाते नहीं बने तो तुम्हें भी फेंकने पड़े। तेज़ धूप में जलीं, सो अलग !"

यह बात कहकर दूल्हा धूप का तख़मीना लगाने के लिए रथ से बाहर देखने लगा। नज़र सुलग उठे, ऐसी तेज़ धूप ! पीले फूलों से लदी हींगानियों की अनगिनत झाड़ियाँ उसे ऐसी लगीं मानो ठौर-ठौर आग की लपटें उठ रही हों। दूल्हे ने परिहास करते हुए कहा, "अब इन हींगानियों की ख़ातिर तो ज़िद नहीं करोगी ! इनमें अच्छाई होती तो भला गड़रिये कब छोड़ते !"

दुल्हन ने कोई जवाब नहीं दिया। चुपचाप सिर झुकाए बैठी रही। सोचने लगी कि इस पति के भरोसे घर का आँगन छोड़ा। माँ-बाप की जुदाई सही। सहेलियों का झुण्ड, भाई-भतीजे, तालाब का किनारा, गीत, गुड्डा-गुड्डी का खेल, झूनी, आँख-मिचौली, धमा-चौकड़ी – ये तमाम सुख छिटकाकर इस पति का हाथ थामा। माँ की

गोद छोड़कर पराये घर की आस की। और ये ठीक तीज के दिन शुभ मुहूर्त की वेला में व्यापार के लिए दिसावर जाना चाहते हैं ! फिर यह बेशुमार दौलत किस सुख के लिए है ? जीते जी काम आती नहीं। मरने पर कफ़न की ग़रज़ भी पूरी करती नहीं। किस सुख की आशा में इनके पीछे आयी ? किस अदृश्य हर्ष और संतोष के भरोसे परायी ठौर का निवास क़बूल किया ? कमाई, तिजारत, जायदाद और दौलत फिर किस दिन के लिए हैं ? असली सुख के इस सौदे के बदले तीन लोक का राज्य हाथ लगे तो भी किस काम का ! दुनिया की सारी दौलत के बदले भी बीता हुआ पल वापस नहीं लौटाया जा सकता। इंसान दौलत की ख़ातिर है कि दौलत इंसान की ख़ातिर ! फ़क़त इसी हिसाब को अच्छी तरह समझना है। फिर कौनसा हिसाब बाक़ी रह जाता है ! सोने का माहात्म्य बड़ा है या काया का ? साँस का माहात्म्य बड़ा है या माया का ? इस सवाल के जवाब में ही जीवन के सारे अर्थ पिरोए हुए हैं।

दूल्हा अपने हिसाब में डूबा था, दुल्हन अपने ख़्यालों में गोता लगा रही थी और बैल अपनी चाल में मग्न थे। चलने वाला मंज़िल पर पहुँचेगा ही। आख़िर सेठ की हवेली के सामने बरात आकर रुकी। गाजे-बाजे और ढोल-नगाड़ों के स्वागत के साथ दुल्हन पहुँची। जिसने भी देखा, सराहे बग़ैर न रह सका। रूप हो तो ऐसा ! रंग हो तो ऐसा !

शाम को रनिवास में घी के दीये जलाये गए। रात्रि के दूसरे पहर दूल्हा रनिवास में आया। आते ही दुल्हन को नसीहत देने लगा कि वह घर की इज़्ज़त का पूरा-पूरा ख़्याल रखे। सास-ससुर की सेवा करे। अपनी आबरू अपने हाथ में। दो दिन के लिए शरीर की चाह क्यूँ जगायी जाए ! दो दिन का सहवास पाँच साल तक तकलीफ़ देगा। वक़्त बीतते क्या देर लगती है ! देखते-देखते पाँच साल गुज़र जाएँगे। फिर किस बात की कमी। यही रनिवास। ये ही चिराग़। ये ही रातें और ये ही सेज। वह किसी बात की चिन्ता को पास ही न फटकने दे। पलक झपकते पाँच बरस गुज़र जाएँगे।

नसीहत की ये अनमोल बातें दुल्हन चुपचाप सुनती रही। कुछ कहना-सुनना और करना तो उसके वश में था नहीं। जो पति की इच्छा, वही उसकी इच्छा। जो बापू की इच्छा, वही बेटे की इच्छा। जो लक्ष्मी की इच्छा, वही बापू की इच्छा। और जो लालच की इच्छा, वही लक्ष्मी की इच्छा। नसीहत की इन बातों में सारी रात ढल गई। रात के साथ झिलमिल-झिलमिल चमकते नौ लाख तारे भी ढल गए।

और उधर उस खेजड़ी के नीचे मूर्च्छा टूटने पर भूत की आँखें खुलीं ! चारों ओर देखा। सूना जंगल। सूनी हरियाली। गहरी खेजड़ी। गहरी छाया। झूलती सांगरियाँ। पर कहाँ दुल्हन ? कहाँ उसकी मदभरी आँखें ? कहाँ उसका ख़ूबसूरत चेहरा ? कहाँ उसके गुलाबी होंठ ? कहीं वो स्वप्न तो नहीं था ? मूर्च्छा के बाद होश में आते ही उसे ऐसा लगा मानो उसके मन में छल-कपट के मैल की जगह धारोष्ण दूध ने ले ली हो। ऐसा सूरज तो आज से पहले कभी नहीं उगा। बड़ा-सा गुलाबी गोला। तमाम दुनिया में रोशनी ही रोशनी। कैसी मन्द-मन्द हवा चल रही है ! हवा के अदृश्य झूले में झूलती हरियाली ! उसका मन नाना प्रकार के अनगिनत रूप धरकर कुदरत के कण-कण में समा गया।

अरे, आज से पहले तो कभी सूरज इस तरह अस्त नहीं हुआ ! पश्चिम दिशा में मानो गुलाल ही गुलाल छितरा गया हो। धरती पर न तो खटकती हुई रोशनी, न पूरा अँधेरा। न गगन में चाँद, न सूरज और न ही कोई तारा गोया कुदरत ने झीना घूँघट डाल लिया हो। चेहरा भी दिखता है, घूँघट भी दिखता है। अब कुदरत ने फिर चुंदरी बदली। नवलख तारों जड़ी सांवली चुंदरी। धुंधला-धुंधला चेहरा दिख रहा है। धुंधले वृक्ष। धुंधली हरियाली गोया स्वप्न का ताना-बाना बुना जा रहा हो। पहले तो कुदरत कभी इतनी मोहक नहीं लगी। ये सब दुल्हन के चेहरे का करिश्मा है !

और उधर दुल्हन का पति उस यौवन से मुँह फिराकर दिसावर की राह चल पड़ा। कमर पर हीरे-मोतियों की नौली बँधी हुई थी। कन्धे पर आगे-पीछे लटकती दो गठरियाँ और सामने आकाश पर चमकता व्यापार का अखण्ड सूरज। सुख, लाभ और कमाई का क्या पार !

जाते हुए वो उसी खेजड़ी के पास से गुज़रा। भूत ने उसे तुरन्त पहचान लिया। आदमी का रूप धरकर उससे राम-राम किया। पूछा, "भाई, अभी तो विवाह के मांगलिक धागे भी नहीं खुले। इतनी जल्दी कहाँ चल दिए ?"

सेठ के लड़के ने कहा, "क्यूँ, मांगलिक धागे क्या दिसावर में नहीं खुल सकते ?"

भूत काफ़ी दूर तक साथ चलता रहा। सारी बातें जान लीं कि वो पाँच साल तक परदेश में व्यापार करेगा। अगर यह मुहूर्त चूक जाता तो अगले सात साल तक ऐसा बढ़िया मुहूर्त हाथ नहीं लगता। सेठ के लड़के की बोलचाल और उसके स्वभाव को ग़ौर से देखने-भालने के बाद उसने अपनी राह ली। मन ही मन सोचने लगा कि सेठ के लड़के का रूप धरकर सवेरे ही सेठ की हवेली पहुँच जाए तो पाँच साल तक कोई पूछने वाला नहीं है। यह बात तो ख़ूब बनी ! क्या उम्दा मौक़ा हाथ लगा है ! आगे की आगे देखी जाएगी। भगवान् ने आख़िर विनती सुन ही ली। फिर तो उससे एक पल भी नहीं रहा गया। हूबहू सेठ के लड़के का रूप धरकर गाँव की तरफ़ चल पड़ा। मन में न ख़ुशी की सीमा थी, न आनन्द की।

एक पहर दिन बाक़ी था तो भी काफ़ी अँधेरा हो गया। उत्तर से विकराल काली-पीली आँधी आती नज़र आयी। आँधी धीरे-धीरे चढ़ने लगी। धीरे-धीरे अँधेरा बढ़ने लगा। सूरज के होते हुए भी अँधेरा ! हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था। क़ुदरत को भी कैसे-कैसे स्वप्न आते हैं ! कुदरत के इस स्वप्न के बिना ज़मीन पर बिछी हुई पैरों तले की धूल को सूरज ढकने का मौक़ा कब हाथ लगता है! ज़मीन पर पड़ी धूल आकाश पर चढ़ गई। अंधड़ की मार से सारा वातावरण चीत्कार कर उठा। पहाड़ों तक की जड़ें हिला देने वाली आँधी ! खोखले दंभ वाले विशाल वृक्ष चरर-मरर उखड़ने लगे। नम्रता रखने वाली लचीली झाड़ियाँ आँधी के साथ ही इधर-उधर झुकने लगीं। उनका कुछ भी नहीं बिगड़ा। पैरों तले रौंदी जाने वाली घास का तो कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। हाल-चाल पूछती, दुलारती, सहलाती हुई आँधी ऊपर से निकल गई। सारी वनस्पति मानो पालने में झूलने लगी। पात-पात और कोंपल-कोंपल की ठीक से संभाल हो गई। बड़े परिंदों को झपाटे लगने लगे। छोटे पक्षी डालों से चिपककर बैठ

गए। उड़ना मुमकिन न रहा। समूचे आकाश पर आँधी का राज्य हो गया। चारों और तेज़ सरसराहट गोया जंगल कराह रहा हो। सूरज के तप-तेज को धरती की धूल निगल गई। अद्‌भुत है, आँधी का यह नृत्य ! अद्‌भुत है, रेत की यह घूमर ! समूची कुदरत इस तूफ़ान में छिप गई। सारा ब्रह्मण्ड एकाकार हो गया। न आकाश दिखता है, न सूरज। न पहाड़ न वनस्पति और न ज़मीन। निराकार, अगोचर। क़ुदरत की इस ज़रा-सी जम्हाई के सामने न इंसान के ज्ञान की कोई हस्ती है, न उसकी ताक़त ही कुछ औक़ात, न उसके अहंकार की कुछ क्षमता और न उसके क्रियाकलाप की कोई हैसियत।

क़ुदरत की छवि का दूसरा चित्र – थोड़ा-थोड़ा उजाला छितरने लगा। हाथ को हाथ सूझने लगा। पल-पल उजाले का अस्तित्व फैलने लगा। धीरे-धीरे कुदरत की छवि स्पष्ट दिखने लगी। पहाड़ की ठौर पहाड़, सोने की थाली-सा गोल सूरज। वृक्षों की ठौर वृक्ष। झाड़ियों की ठौर झाड़ियाँ। हवा की ठौर हवा। यह क्या जादू हुआ ... ? कि यकायक तड़ातड़ मूसलाधार पानी बरसने लगा। बूँद से बूँद टकराने लगी गोया बादलों के मुँह खोल दिए गए हों। क़ुदरत स्नान करने लगी। उसका ज़र्रा-ज़र्रा नहा गया। नदी-नालों में पानी बहने लगा। चारों ओर पानी ही पानी। नहाती हुई क़ुदरत को देखकर सूरज की रोशनी सार्थक हुई।

भूत सोचने लगा कि कुछ ही देर में यह क्या माजरा हुआ ? देखने पर भी विश्वास न हो, यह कुदरत की कैसी हरकत है ? यह क्या हुआ ? कैसे हुआ ? कहीं उसके मन की आँधी ही तो बाहर प्रकट नहीं हुई ? क़ुदरत की यह लीला कहीं उसके मन में ही तो दबी हुई नहीं थी ? इस वहम के ज़ोम में वो तेज़ चलने लगा। मन ही मन तदबीर सोचता जा रहा था और राह चलता जा रहा था।

वो सीधे हवेली न जाकर पहले सेठ की दुकान पर पहुँचा। हिसाब-किताब करते हुए सेठ ने बेटे को देखा, तब भी उसका मन नहीं माना। दिसावर के लिए गया हुआ बेटा वापस कैसे आ सकता है ! आज तक उसने कभी उसका कहना नहीं टाला। विवाह होने के बाद इंसान काम का नहीं रहता। ये सब किया-धरा सेठानी का है। अब हो चुकी कमाई ! या तो व्यापार की हाज़िरी बजा लो या फिर औरत की !

बापू के होंठों पर आती बात को बेटा बगैर कहे ही समझ गया। हाथ जोड़कर बोला, "पहले आप मेरी बात तो सुनो ! व्यापार के लिए सलाह-मशवरा करने के लिए ही वापस आया हूँ। अगर आपकी मर्ज़ी नहीं होगी तो घर गए बग़ैर ही वापस मुड़ जाऊँगा। रास्ते में समाधि लगाए एक महात्मा के दर्शन हो गए। सारे शरीर पर दीमक की तहें चढ़ी हुई थीं। मैंने सुथराई से दीमक हटायी। कुएँ से पानी निकालकर उन्हें नहलाया, पानी पिलाया, खाना खिलाया। तब महात्मा ने ख़ुश होकर वरदान दिया कि सवेरे पलंग से नीचे उतरते ही मुझे रोज़ाना पाँच मोहरें मिलेंगी। दिसावर जाने की बात सोचते ही वरदान ख़त्म हो जाएगा। अब आप जो हुक्म दें, मुझे मंज़ूर है।"

ऐसे अप्रत्याशित वरदान के बाद जो हुक्म होना था, वही हुआ। सेठ ख़ुशी-ख़ुशी मान गया। सेठ के साथ सेठानी भी बहुत ख़ुश हुई। इकलौता बेटा आँखों के सामने रहेगा और कमाई की जगह कमाई का जुगाड़ हो गया।

दुल्हन को ख़ुशी के साथ आश्चर्य और गर्व भी हुआ कि भला यह रूप छोड़कर कौन दिसावर जा सकता है ! तीसरे दिन ही वापस लौटना पड़ा।

दुक़ान का हिसाब-किताब और भोजन करके पति दो घड़ी रात ढलने पर रनिवास में आकर सो गया। चारों कोनों में घी के दीये जल रहे थे। फूलों की सेज। ऐसे इंतज़ार से बढ़कर कोई आनन्द नहीं। पायल की झनक-झनक झंकार सुनायी दी। इस झंकार से बढ़कर कोई सुर नहीं। सोलह सिंगार सजी दुल्हन रनिवास में आई। इस सौन्दर्य से बढ़कर कोई छवि नहीं। समूचे रनिवास में इत्र-फुलेल की ख़ुशबू छा गई। इस ख़ुशबू से बढ़कर कोई महक नहीं। इस महक ने ही तो उस खेजड़ी के मुक़ाम पर भूत की सोयी भावनाओं को जगाया था। और आज रनिवास में प्रत्यक्ष नज़रों का मिलन हुआ। इतनी जल्दी मनचाही हो जाएगी, इसका तो स्वप्न में भी ख़्याल नहीं था।

दुल्हन निस्संकोच पास आकर बैठ गई। घूँघट क्या हटाया मानो तीनों लोकों का सर्वोपरि सुख जगमगा रहा हो। इस रूप की तो छाया भी दमकती है। दुल्हन मुस्कराती हुई बोली, "मैं जानती थी कि तुम बीच राह ही से लौट आओगे। यह तारों भरी रात इस अवसर पर आगे नहीं बढ़ने देगी। इस संकल्प के स्वामी थे तो फिर मेरे रोकने के बावजूद गये ही क्यूँ? मेरी मनौती सच हुई।"

यह बात सुनते ही पति के मन में बवण्डर सा उठा। इस पवित्र दूध में कीचड़ कैसे मिलाये ! इसे छलने से बढ़कर कोई पाप नहीं है। यह तो मुझे असली पति मानकर इतनी ख़ुश हुई है। पर इससे बदतर झूठ और क्या हो सकता है? यह झूठ का अन्तिम छोर है। आख़िरी हद। इस अबोध प्रीत के साथ कैसे दग़ा करे ! प्रीत करने के बाद तो भूतों का मन भी धुल जाता है। कोई बराबरी का हो तो छल-बल की ताक़त भी आज़माए, पर नींद में सोये हुए का गला चाक करने पर तो तलवार भी कलंकित होती है।

भूत थोड़ा दूर खिसककर बोला, "क्या मालूम मनौती सच हुई या नहीं। पहले पूरी छानबीन तो कर लो कि मैं कहीं दूसरा आदमी तो नहीं हूँ ! कोई मायावी तो तुम्हारे पति का रूप धरकर नहीं आ गया !"

दुल्हन यह बात सुनकर पहले तो कुछ चौंकी। फिर नज़र गड़ाकर पास बैठे व्यक्ति को अच्छी तरह देखा। हूबहू वही चेहरा, वही रंग-रूप, वही नज़र, वही बोली। तुरन्त समझ गई कि पति उसके शील को परखना चाहता है। मुस्कराहट की आभा छितराते बोली, "मैं सपने में भी पराये मर्द की छाया तक का परस नहीं होने देती, तब खुली आँखों यह बात कैसे मुमकिन है ? अगर दूसरा आदमी होता तो मेरे शील की आग से कभी का भस्म हो चुका होता !"

पहले तो यह बात भूत को चुभी। होंठों पर आयी हुई बात को तुरन्त निगल गया कि तब तो इसके शील में अवश्य ही खोट है। वो भस्म हो जाता तो उसका शील सच्चा था। असलियत में दूसरा आदमी होते हुए भी जब वो भस्म नहीं हुआ तो उसका शील एकदम बुझा हुआ है। पर दूसरे ही पल बात का दूसरा पहलू सोचते ही उसका गुस्सा ठण्डा पड़ गया। वो उल्टा बेहद ख़ुश हुआ। सोचने लगा कि फ़क़त चेहरे से ही क्या होता है ! अगर वो

सच्चा पति होता तो व्यापार के लालच में औरत की यह माया छोड़ सकता था ! क्या उसने इसलिए इसका हाथ थामा कि ऐसे रूप को विरह की आग में जलने के लिए छोड़कर चलता बने ! कोई अन्धा भी इस रूप की आभा को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता, तब वो आँखें रहते हुए भी किस तरह अन्धा बना ? अग्नि की साक्षी में सात फेरे लगा लिये तो क्या हुआ, उसकी प्रीत में सच्चाई कहाँ है ? और भूत होकर भी मैंने सच्ची प्रीत की। छल करते हुए दिल काँपता है। मेरी प्रीत सच्ची है। मेरी चाहना खरी है। तभी तो दोनों का सत बच गया। पर फिर भी दुराव रखने से प्रीत को ठेस लगेगी। असलियत बताए बग़ैर इस रनिवास में साँस लेना भी दूभर है। पास खिसककर कहने लगा, "दरअसल, मैं हूँ तो दूसरा आदमी ही, पर फिर भी तुम्हारा शील खरा है, क्यूँकि मेरी प्रीत सच्ची है। मण्डप के असली पति की प्रीत झूठी है। तभी तो वो ऐसे रूप से मुँह फिराकर दिसावर के लिए चल पड़ा !"

पर दुल्हन सच-झूठ की कैसे पहचान करे ? ये बातें रत्ती भर भी उसके पल्ले नहीं पड़ीं। स्वयं माँ-बाप जिसे अपना बेटा मानते हैं, उस हूबहू शक्ल वाले आदमी को अपना पति मानने में कैसा संकोच ! शक्ल और रंग-रूप ही तमाम रिश्तों की सबसे बड़ी पहचान है।

तत्पश्चात् उस भूत ने दुल्हन को सारी बात बतायी कि उस खेजड़ी के मुक़ाम पर उसका रूप देखकर उसकी क्या दशा हुई। उसके रवाना होते ही वह कैसे मूर्च्छित हुआ। वापस कब होश में आया। परदेश जाते हुए उसके पति के साथ उसकी क्या-क्या बातें हुईं। फिर उसका रूप धरकर कैसे इस हवेली में आने का निश्चय किया। राह चलते हुए आँधी-पानी की बात भी विस्तार से कही। दुल्हन कठपुतली की तरह गुमसुम बैठी सारी बात सुनती रही। क्या इसी बात को सुनने की ख़ातिर विधाता ने उसे कान दिए हैं !

उसकी कलाई को सहलाते हुए भूत आगे कहने लगा, "माँ-बाप को तो रोज़ की पाँच मोहरों और दुकान की कमाई से मतलब है, वास्तविक भेद से उन्हें कोई लेना-देना नहीं। पर तुम्हें न जताने पर प्रीत के मुँह पर कालिख पुत जाती। अगर मैं यह भेद प्रकट न करता तो पाँच साल तक तुम स्वप्न में भी असलियत नहीं जान पातीं। तुम तो असली पति मानकर ही सहवास करतीं। पर मेरा मन नहीं माना। मैं अपने मन से सही बात कैसे छुपाता ? आज से पहले बहुत-सी औरतों के शरीर में घुसकर उन्हें काफ़ी तकलीफ़ दी, पर मेरे मन की ऐसी दशा तो कभी नहीं हुई। राम जाने, इतनी दया मेरे मन के किस कोने में छुपी थी ? इसके बावजूद अगर तुम्हारी इच्छा न हो तो मैं इसी पल वापस चला जाऊँगा। जीते जी इस ओर मुँह तक नहीं करूँगा। तुम्हें तड़पाकर मुझे प्रीत का आनन्द नहीं चाहिए। फिर भी उम्र भर तुम्हारा अहसान मानूँगा कि तुम्हारी प्रीत की वजह से मेरे हृदय का ज़हर, अमृत में बदल गया। औरत के रूप और मर्द के प्रेम की यही तो सर्वोच्च मर्यादा है।"

रूप की पुतली के होंठ खुले। बोली, "अभी तक यह बात मेरी समझ में नहीं आयी कि यह भेद प्रकट होने से ठीक रहा या प्रकट न होने से ठीक रहता। कभी पहली बात ठीक लगती है और कभी दूसरी !"

दुल्हन की आँखों में नज़र गड़ाकर भूत कहने लगा, "प्रसव वेदना को भला बाँझ क्या समझे ! इस पीड़ा में ही कोख का चरम आनन्द निवास करता है। सच्चाई और कोख के सृजन की पीड़ा एक-सी होती है। इस सच्चाई

को छिपाने में न तो पीड़ा थी, और न ही आनन्द। वो तो फ़क़त हक़ीक़त का भ्रम होता। आनन्द का ढोंग। मैंने कई औरतों के शरीर में प्रवेश किया, तब कहीं जाकर हक़ीक़त के भ्रम की ठीक से पहचान हुई। मैं कई ऐसी सती-सावित्री औरतों को जानता हूँ जो सहवास के समय पति के चेहरे में किसी और का चेहरा देखती हैं। यों कहने को तो वे पराये मर्द की छाया का भी परस नहीं करतीं। पर पति के बहाने दूसरे चेहरे के ख़्याल में कितना पातिव्रत्य है, उसकी सही पहचान जितनी मुझे है, उतनी ख़ुद विधाता को भी नहीं है। पतिव्रता औरतों के तमाशे मैंने बहुत देखे हैं। डर तो फ़क़त बदनामी का है। भेद खुलने का डर न हो तो स्वयं भगवान् भी पाप करने से न चूकें। अब जो भी तुम्हारी इच्छा हो, ज़ाहिर कर दो। मैंने तो भूत होकर भी कोई बात नहीं छिपायी।"

ऐसी पहेली से तो आज तक किसी औरत का सामना नहीं हुआ होगा। स्वेच्छा से परकीया होने की तो बात ही अलग है। परायी औरत और पराये मर्द की ख़ातिर किसका मन लालायित नहीं होता, पर सामाजिक प्रतिष्ठा की वजह से पर्दा नहीं हटाया जा सकता। पर पर्दे के पीछे जो होना होता है, वो होता ही है। सोच-विचारकर ऐसी बात का जवाब देना कितना दूभर है ! वह इस तरह गुमसुम बैठी रही मानो बोलना ही भूल गई हो। इतनी बातें सुनने के बाद तो वह नितान्त गूँगी हो गई।

दुल्हन के दिमाग़ में अचीती एक लहर उठी। वह सोचने लगी – जन्म के समय थाल के बदले सूप बजा। घर वालों को कोई ख़ुशी नहीं हुई। लड़का होता तो अधिक ख़ुश होते। माँ-बाप की नज़र में घूरा बढ़ने में वक़्त लगता हो तो बेटी का शरीर बढ़ने में भी कोई वक़्त लगे। दसवाँ साल लगते ही माँ-बाप उसके पीले हाथ करके पराये ठिकाने भेजने की चिन्ता करने लगे। वह न आँगन में समाती थी और न गगन में। छाछ और लड़की माँगने में कैसी शर्म ! रिश्ते पर रिश्ते आने लगे। उसके रूप की चर्चा चारों ओर हवा में घुल गई थी। सोलह साल पूरे करने मुश्किल हो गए। माँ की कोख में समा गई, पर घर के आँगन में न समा सकी। अचानक इस हवेली से नारियल आया। उसकी क़िस्मत कि घर वालों ने नारियल लौटाया नहीं। यह हवेली न होकर अगर कोई दूसरा घर होता, तब भी उसे तो जाना ही था। जिसके लिए घरवालों की मर्ज़ी होती, उसी का हाथ थामना पड़ता। पति व्यापार और हिसाब-किताब में ही खोया रहता है। उसकी नज़र में हंडिया के पेंदे और औरत के चेहरे में कोई फ़र्क़ नहीं है। फटता हुआ जोबन भी वैसा और फटती हुई मिट्टी भी वैसी। न रथ में पत्नी के मन की बात समझा और न ही रनिवास में। सूना रनिवास और फीकी सेज छोड़कर अपने व्यापार के लिए चल पड़ा। वापस मुड़कर भी नहीं देखा। और आज भूत वाली प्रीत की रोशनी के सामने तो सूरज भी धुंधला गया ! सात फेरे वाला पति जबरन रवाना हुआ तो उसका वश चला नहीं। भूत वाली इस प्रीत के सामने भी उसका वश कहाँ चला ! जाने वाले को रोक न सकी तो फिर रनिवास में आने वाले को कैसे रोके ? यह प्रीत दरसाता है तो कानों में तेल कैसे डाले ? पति ने उसे इस तरह मंझधार में छोड़ दिया। भूत होते हुए भी इसने प्रीत जतायी, तो कैसे इंकार करे ? अगर स्वप्न वश में हो तो प्रीत वश में हो ! वह अपनी सुध-बुध बिसराकर भूत की गोद में लुढ़क गई।

कहीं यह दुल्हन के मन का ही भूत तो नहीं था, जो साकार रूप धरकर प्रकट हुआ ? फिर अपने मन से क्या दुराव ! जहाँ भाषा अटक जाती है, वहाँ मौन काम कर जाता है। अब कुछ भी कहना-सुनना शेष नहीं रहा। स्वतः ही एक-दूसरे के अन्तस् की बात समझ गए। फिर चिराग़ की रोशनी लुप्त हो गई और अँधेरा उजाले का रूप

धरकर दिप-दिप करने लगा। सेज के मुरझाये हुए फूलों की पंखड़ी-पंखड़ी खिल उठी। रनिवास की रोशनी सार्थक हुई। रनिवास का अँधेरा सार्थक हुआ। आकाश के नवलख तारों की जगमगाहट आप ही बढ़ गई।

ऐसी रसीली रातों के होते वक़्त गुज़रते क्या देर लगती है ! चुटकियों में दिन बीतने लगे। ख़ूब व्यापार बढ़ा। ख़ूब लेन-देन बढ़ा। ख़ूब प्रतिष्ठा बढ़ी। माँ-बाप तो ख़ुश थे ही, सारा इलाक़ा भी सेठ के लड़के से बेहद ख़ुश था। वक़्त-बेवक़्त सभी के काम आता था। दूसरे बनियों की माफ़िक़ गले नहीं काटता था। निपट संयमी। सदाचारी। दुकान पर आने वाली औरतों की तरफ़ नज़र उठाकर भी नहीं देखता था। छोटी को बहन और बड़ी को माँ के समान मानता था। उसका नाम लेते ही लोगों का मन श्रद्धा से भर जाता था। उसमें फ़क़त एक बात की कमी थी कि परदेश से सेठ के लड़के का पत्र आता तो फाड़कर फेंक देता। वापस कोई जवाब नहीं देता।

इस आनन्द और यश के बीच देखते-देखते तीन बरस गुज़र गए गोया मीठा सपना बीता हो। भूत भी उस हवेली में रच-बस गया मानो सेठ का सगा बेटा ही हो। बहू भी रनिवास के नशे में विभोर थी। रनिवास के इंतज़ार में दिन उगते ही अस्त हो जाता। रनिवास में घुसते ही पल भर में रात ढल जाती।

बहू के आशा ठहरी। तीसरा महीना उतरने वाला था। गर्भ रहने की ख़ुशख़बरी सुनकर सेठ ने सवा मन गुड़ अपने हाथों से बाँटा। लोगों ने सवा मन सोना मानकर क़बूल किया। सेठ ने उम्र में पहली दफ़ा यह उदारता बरती थी। आज हाथ खुला है तो आगे भी कुछ न कुछ मिलेगा। बेटे-बहू ने चुपके-चुपके काफ़ी दान-पुण्य किया। हर्ष के नवलख तारों के बीच अब नया चाँद जुड़ेगा। कोख का चाँद आकाश के चाँद से सदा बढ़कर होता है।

दोनों पति-पत्नी को बेटी की बेहद चाह थी। ख़ूब ख़ुशियाँ मनाएँगे। बेटा कौनसा स्वर्ग ले जाता है ? राम जाने किसकी शक्ल पर जाए ! सन्तान के जन्म की बजाय सन्तान होने की कल्पना में अधिक सुख होता है। कोख में सन्तान के साथ-साथ सपने पलते हैं।

दिन घोड़े की गति से दौड़ने लगे। पाँच महीने बीते। सात महीने पूरे हुए। यह नौवाँ महीना उतरने वाला है। बहू दिनभर रनिवास में सोयी रहती। उसकी सेवा में तीन दासियाँ आठों पहर हाज़िर रहतीं।

एक रात पति की गोद में सोयी बहू मुँह उठाकर बोली, “कई दफ़ा सोचती हूँ, अगर उस दिन खेजड़ी की छाया में आराम करने के लिए नहीं ठहरते तो राम जाने मेरे ये चार साल किस तरह कटते। मुझे तो लगता है कि कटते ही नहीं।”

भूत बोला, “तुम्हारे दिन तो जैसे-तैसे निकल ही जाते, पर मेरी क्या दशा होती ? झाड़ी-झाड़ी व पेड़-पेड़ पर भूत की योनि पूरी करता। उस दिन सुमत सूझी कि मैं तुम्हें लगा नहीं। मुझे तो आज भी विश्वास नहीं होता कि ज़िंदगी का आनन्द भोग रहा हूँ या कोई सपना देख रहा हूँ!”

चिकने रेशमी बालों पर उँगलियाँ फिराते-फिराते रात फिसल गई।

उधर सुदूर दिसावर में बहू का परिणेता रात के अन्तिम पहर में उठ बैठा। आलस मरोड़, जम्हाई लेकर घड़े से ठण्डा पानी पिया। चारों ओर देखा। एक-सा अँधेरा। झिलमिलाते हुए एक-से तारे। किसी भी दिशा में रोशनी नहीं। सोचने लगा कि यह रात और भी छोटी होती तो कितना अच्छा रहता ! क्या ज़रूरत है इतनी लम्बी रातों की ? सोने-सोने में ही आधी जिंदगी गुज़र जाती है। नींद में तो व्यापार और लेन-देन हो नहीं सकता, वरना दूनी कमाई होती। फिर भी दौलत कम इकट्ठी नहीं की ! बापू बेहद ख़ुश होंगे।

बीच-बीच में आसपास के व्यापारी मिलते रहते थे। उसे वहाँ पाकर उन्हें बहुत आश्चर्य होता था। एक दफ़ा पूछ ही लिया कि वो गाँव से वापस कब आया ? यह सुनकर उसे भी कम आश्चर्य नहीं हुआ था। जवाब दिया कि उसने तो अभी गाँव की तरफ़ मुँह भी नहीं किया। वे पागल तो नहीं हो गए। लोगों ने ज़ोर देकर कहा, विस्तार से सारी बात बतायी, फिर भी उसे विश्वास नहीं हुआ। वो जब यहाँ है तो वहाँ कैसे हो सकता है। कमाई सहन नहीं होती, अतः ईर्ष्यालु लोग उसे चक्कर में डालना चाहते हैं। पर वो ऐसा नासमझ नहीं है। उनके भी कान-कतरे जैसा है। कमाई और व्यापार में और अधिक मन लगाने लगा।

पर आज अल्ल-सवेरे ही एक भरोसेमंद पड़ोसी ने ख़बर दी कि बहू के तो बच्चा होने वाला है। शायद हो गया हो।

सेठ का लड़का बीच ही में बोला, "अगर ऐसी बात होती तो घर वाले मुझे ज़रूर ख़बर करते। मैंने पाँच-सात चिट्ठियाँ भेजीं, पर एक का भी जवाब नहीं आया।"

पड़ोसी ने कहा, "भले आदमी, ज़रा सोचो तो सही कि घर वाले क्यूँ ख़बर करते ? किसको करते ? उनका लड़का तो बीच राह से तीसरे ही दिन वापस आ गया था। एक महात्मा के दिये हुए मन्त्र से सेठजी को रोज़ाना पाँच मोहरें देता है। हवेली पर तो राम की मेहर है। गाजों-बाजों व उत्सवों के ठाट हैं। रनिवास में घी के दीये जलते हैं। हाँ, अब मालूम हुआ कि आपकी शक्ल हूबहू सेठजी के लड़के से मिलती है। विधाता का खेल ! ख़ुद सेठजी देखें तो भी पहचान नहीं सकें। अब बातचीत करने पर मालूम हुआ कि शक्ल तो ज़रूर मिलती है, पर आप दूसरे हैं।"

"भला, मैं दूसरा कैसे हुआ ? अब लगता है कि कल-परसों ही जाना पड़ेगा।"

सो सेठ के लड़के ने अपना धंधा समेटा, मुनीम को हिसाब-किताब समझाया और अपने गाँव की ओर चल पड़ा। वो ही जेठ का महीना। लूओं के अंधड़ शोर मचा रहे थे। करीलों पर सुर्ख़ ढालू देखकर यकायक उस दिन वाली बात याद आ गई। सोचा – बहू की अगर ऐसी पसंद है तो अपना क्या जाता है ! कौन से पैसे लगते हैं ? पके हुए ढालू तोड़कर अंगोछे के पल्लू में बाँध लिए।

वो हवेली पहुँचा तब आँगन में औरतों का जमघट लगा हुआ था। सेठ-सेठानी घबराये हुए मनौती पर मनौती बोल रहे थे। भूत वाला पति ऊपर रनिवास के दरवाज़े पर खड़ा था। उदास, उद्विग्न। बहू नीचे सौरी के अंदर कराह रही थी। बच्चा अटक गया था। दाइयाँ अपने हुनर आज़मा रही थीं।

इतने में आँगन की इस चिल्ल-पौं के दरम्यान सात फेरों का परिणेता धूल से अटा हुआ बेहिचक आँगन में आ खड़ा हुआ। कन्धे पर ढालुओं का अंगोछा लटक रहा था। माँ-बाप के चरणों में शीश नवाकर प्रणाम किया। यह क्या माजरा है ? हूबहू बेटे से शक्ल मिलती है ! गर्द से सना है तो क्या हुआ ! दौलत के लालच में कोई मायावी तो नहीं आ गया ! अत्यधिक आश्चर्य भी गूंगा होता है। माँ-बाप ने बोलना चाहा तो भी उनसे बोला नहीं गया। औरतों के गले का राग बदल गया। हाय दैया, एक ही शक्ल के दो पति ! कौन सच्चा, कौन झूठा ? यह कैसा कौतुक ? कैसा तमाशा ? कोई इधर भागी, कोई उधर भागी।

सौरी के भीतर से पत्नी का कराहना सुनकर वो फ़ौरन सारी बात समझ गया। सुनी सो ख़बर सच्ची है ! ऐसा छल किसने किया ? कैसे हो इसकी पहचान ? लोग किसके कहे का विश्वास करेंगे ? सहसा ऊपर रनिवास के दरवाज़े पर खड़े युवक पर उसकी नज़र पड़ी। यह तो वास्तव में हूबहू उसका हमशक्ल है ! मायावी के छल का कौन मुक़ाबला कर सकता है ? रगों में ख़ून जम गया। ओह, यह अनहोनी कैसे हुई ?

प्रीत वाले पति के कानों में तो फ़क़त ज़च्चा का कराहना गूँज रहा था। उसे तो किसी दूसरी बात का होश ही नहीं था। हवा थम गई थी। सूरज थम गया था। कब यह कराहना बंद हो और कब क़ुदरत का बन्धन खुले !

बापू के मुँह की ओर देखते हुए बेटा बोला, "मैं तो चार साल से दूर दिसावर में था, फिर समझ में नहीं आता कि बहू के गर्भ कैसे रह गया ? तुम्हें कुछ तो अक़्ल से काम लेना था !"

सेठ ने मन ही मन सारा हिसाब लगा लिया। बोला, "तू है कौन ? मेरा लड़का तो तीसरे ही दिन वापस आ गया था। यहाँ अय्यारी की तो दाल नहीं गलेगी !"

बापू के मुँह से यह बोल सुनकर बेटे को बेहद आश्चर्य हुआ। चुप रहने पर तो सारी बात ही बिगड़ जाएगी। तुरन्त बोला, "चार साल तक बेशुमार कमाई करके दिसावर से बाप के घर आया। इसमें अय्यारी की कौनसी बात है ? तुम्हीं ने तो जबरन भेजा था।"

सेठ ने कहा, "नहीं चाहिए मुझे ऐसी कमाई। तू मुझे कमाई का क्या लालच दिखा रहा है ! जिस राह आया, उसी राह सीधे-सीधे चलता बन, वरना बुरी बीतेगी।"

बापू का तो दिमाग़ ही फिर गया लगता है। उसने माँ के मुँह की ओर देखकर पूछा, "माँ, क्या तू भी अपनी कोख के बेटे को नहीं पहचानती ?"

माँ इस सवाल का क्या जवाब देती ? उसकी ज़ुबान मानो तालू से चिपक गई हो। वह टुकुर-टुकुर पति के चेहरे की तरफ़ देखने लगी। माँ ने कुछ जवाब नहीं दिया तो बेटा भी असमंजस में पड़ गया। सहसा उसे ढालुओं की बात याद आ गई। काँपते हाथों से तुरन्त अंगोछा खोल, लाल-लाल ढालुओं को बापू के सामने करते बोला, "बहू से उस दिन की ढालुओं की बात तो पूछो। वह सारा क़िस्सा बता देगी। उस दिन उसने स्वयं ही ढालू तोड़कर

खाये थे। आज मैं अपने हाथों से तोड़कर लाया हूँ। एक दफ़ा उससे पूछो तो सही। आप फ़रमाएँ तो मैं बाहर खड़े-खड़े ही पूछ लूँ।"

सेठ को गुस्सा आ गया। बोला, "पागल कहीं का ! यह समय ढालुओं की बात पूछने का है ! बहू मौत से जूझ रही है और तुझे ढालुओं की पड़ी है। भाड़ में जाएँ तेरे ये ढालू। मैं तो यह बेतुकी बात सुनते ही सारी बात समझ गया। मेरी बहू गँवारों की तरह हाथों से तोड़कर ढालू खाएगी ? इज़्ज़त प्यारी हो तो यहाँ से दफ़ा हो जा, वरना इतने जूते पड़ेंगे कि कोई गिनने वाला भी नहीं मिलेगा।"

बेटे ने कहा, "बाप के जूतों की कोई परवाह नहीं, पर सचमुच मैंने भी उस दिन रथ में ठीक यही बात कही थी।"

सौरी के भीतर बहू का कराहना उसी तरह जारी था। दाइयों ने कई दफ़ा पूछा, फिर भी वह बच्चे को काटकर निकलवाने के लिए तैयार नहीं हुई। बमुश्किल मरने से बची। बहू की आँखों के आगे कभी अँधेरा छा जाता, कभी बिजलियाँ जगमगाने लगतीं।

हवेली से भागी औरतों के ज़रिये यह बात हवा की तरह घर-घर में फैल गई। देखते ही देखते सेठ की हवेली के सामने मेला लग गया। ऐसी अनहोनी बात का स्वाद तो ज़ुबान को बरसों में मिलता है। हरेक की ज़ुबान को पंख लग गए। एक ही शक्ल के दो पति ! एक तो चार साल पहले से ही रनिवास में ऐश कर रहा है और एक आज दिसावर से लौटा है। बहू सौरी में प्रसव पीड़ा से कराह रही है। ख़ूब तमाशा हुआ। देखना है कि धन्ना सेठ इस मामले को कैसे निपटाते हैं ? कैसे छुपाते हैं ? भला, ऐसी बात पर पर्दा कौन डालने देगा ! लोग चबा-चबाकर फिर से जुगाली करने लगते।

अपनी हवेली के चारों ओर यह जमघट देखा तो सेठ की एड़ी से चोटी आग लग गई। थूक उछालते कहने लगा, "मेरे घर की बात है। हम आप ही निपट लेंगे। बस्ती वाले क्यूँ टाँग अड़ाते हैं ? मैं कहता हूँ कि बाद में आने वाला आदमी छली है। मैं अपने नौकरों से धक्के देकर उसे निकलवा दूँगा। दिन-दहाड़े यह मक्कारी नहीं चल सकती।"

बेटा चिल्लाया, "बापू, तुम यह क्या पागलपन कर रहे हो ? सूरज को तवा और तवे को सूरज बता रहे हो ? तुम जैसे भी चाहो, पूरी छानबीन कर लो। यह तो सरासर अन्याय है।"

इन दौलतमंद लोगों को नीचा दिखाने का मौक़ा कब-कब मिलता है ! लोग-बाग भी अड़ गए कि खरा न्याय होना चाहिए। दूध का दूध और पानी का पानी ! क़सूरवार को वाजिब सज़ा मिले। यों दो पतियों का रिवाज चल निकला तो कैसे निभेगी ? अमीरों का तो कुछ नहीं, पर ग़रीबों का जीना हराम हो जाएगा। बस्ती की उपेक्षा नहीं की जा सकती। चाहे कितना ही दौलत का ज़ोर क्यूँ न हो, कन्धा देने वाले किराये पर नहीं आएँगे।

मामला काफ़ी उलझ गया। दोनों अपनी-अपनी बात पर अड़ गए। कोई भी पीछे हटने को तैयार नहीं था। न सेठ और न बिरादरी वाले। लोगों की ज़ुबान थी और बहू के कान थे, सो उस तक भी सारी ख़बर पहुँच गई। औरत की इस ज़िंदगी में राम जाने कैसी-कैसी बातें सुननी पड़ेंगी, कैसे-कैसे अपमान सहने पड़ेंगे और कैसे-कैसे तमाशे देखने पड़ेंगे ! आख़िर एक दिन तो यह झमेला होना ही था। चार साल तो स्वप्न की तरह अदृश्य हो गए। भला, स्वप्न के दिलासे से कब तक मन को समझाया जा सकता है ? कितना उसका सहारा ! और कितनी उसकी गहरायी ! किसी पुराने खण्डहर के चमगादड़ों की तरह भीड़ इधर-उधर चक्कर लगाने लगी। यह मामला निपटाये बग़ैर तो गले से कौर भी नहीं निगला जा सकता।

सौरी का दरवाज़ा खोलकर दाइयों ने ख़बर दी कि बहू को लड़की हुई है। मौत की विकट घड़ी टल गई। ज़च्चा के मरने में तो कोई कसर ही नहीं थी। बच गई सो क़िस्मत की बात। सौरी के बाहर भिनभिनाती औरतों को बच्ची का रोना सुनायी दिया। रनिवास के बाहर खड़े पति को अब जाकर होश आया, पर होश आते ही जो भनक कानों में पड़ी तो मानो कलेजे में सहसा सुरंग छूटी हो। सुधबुध को गोया लकवा मार गया हो। एक साल पहले यह गाज कैसे गिरी ?

सेठ-सेठानी पागलों की तरह हक्के-बक्के खड़े थे। हतप्रभ ! समूची बस्ती में कानाफूसी होने लगी। यह कैसी अप्रत्याशित मुसीबत आ पड़ी। इस हरामज़ादे, चंडाल ने न जाने किस जन्म का बदला लिया है ? बात तो हाथ से छूटती जा रही है। अब कैसे समेटी जाए ! कौन जाने, किसने यह चाल चली है ? रनिवास तो पिछले चार सालों से रोशन है। इसे नहीं क़बूलने पर तो हवेली की सारी इज़्ज़त ही मिट्टी में मिल जाएगी। ढालू वाला किसी तरह मान जाए तो पर्दा पड़ा रहे। मुँहमाँगी दौलत देने को तैयार है, फिर उसे क्या चाहिए ?

पर न ढालू वाला माना और न बस्ती के लोग ही माने। पुख़्ता न्याय होना चाहिए। सारी बिरादरी की नाक कटती है। चार साल बाद कोख उघड़ते ही एक और पति आ धमका। क्या मालूम कौन असली है ? एक को तो झूठा होना ही पड़ेगा। लोगों ने शोर मचाकर आकाश सिर पर उठा लिया, मानो बर्रों का बड़ा छत्ता नीचे आ पड़ा हो। ढालू वाले की हिमायत न करना तो हाथों भड़काई आग पर पानी डालना होगा। तब तो सारा मज़ा ही किरकिरा हो जाएगा। इस मज़े को चखने की ख़ातिर हर व्यक्ति ढालू वाले पति की तरफ़दारी करने लगा।

सेठ हाथ जोड़ते हुए रुँधे सुर में बोला, "मेरी पगड़ी उछालकर तुम्हें क्या मिलेगा ? भाइयों की तरह साथ रहते हैं। वक़्त-बेवक़्त एक-दूसरे के काम आते हैं। मेरे बेटे के गुण तुम लोगों से छिपे नहीं हैं। उसके हाथों से किसका भला नहीं हुआ ! इतनी जल्दी अहसान फ़रामोश न बनो। मेरी इज़्ज़त अब तुम्हारे हाथों में है। किसी भी तरह मामला सुलझा दो। यह ढालू वाला आदमी जाली है। इसे धक्के मारकर गाँव से बाहर निकालो।"

बुज़ुर्गों ने कहा, "सेठजी, आँखों दिखती मक्खी निगली नहीं जा सकती। वक़्त आने पर जान देने को तैयार हैं, पर पानी की गठरी कैसे बाँधी जा सकती है ? यह आदमी बढ़-चढ़कर कह रहा है, बहू से ढालुओं वाली बात पूछो तो सही, इसमें हर्ज ही क्या है ?"

ऐसी बात कैसे पूछी जा सकती है ? कौन पूछे ? तब कुछ भली, बूढ़ी औरतें आगे आईं। मुसीबत में इंसान ही इंसान के काम आता है। सौरी का दरवाज़ा खोलकर भीतर गयीं। ज़च्चा का पेट दर्द से ऐंठ रहा था। प्रसव की घाटी पार करने के बाद इस बात की भनक उसके कानों में पड़ी तो वह प्रसव की सारी पीड़ा भूल गई। यह दूसरी पीड़ा बहुत, बहुत बड़ी थी। दाँत पीसती हुई कठिनता से बोली, "कोई मर्द यह बात पूछता तो उसको हाँ या ना का जवाब भी देती। पर औरतों का दिल रखकर भी तुम यह बात पूछने की हिम्मत कैसे जुटा पायीं ! मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो। तुम्हें परेशान करने का यही समय मिला है? धन्य है तुम्हारा साहस !"

वृद्धाएँ मुँह बिगाड़ती हुई बाहर आईं। बोलीं, "ऐसी बातों में औरतें सच नहीं बोलतीं ? हमें तो दूध में कालिख़ नज़र आती है। फिर जो तुम्हारी समझ में आए, सो करो।"

ऐसे मौक़ों पर ही तो समझ की धार तेज़ होती है। सूत तो ख़ूब ही उलझा। बुज़ुर्गों ने फिर समझ से काम लिया। कहा, "यह न्याय राजा के बिना नहीं निपट सकता। किसी और ने इसमें टाँग अड़ायी तो समूची बस्ती को उनके ग़ुस्से का शिकार होना पड़ेगा। अपना भला-बुरा तो सोचना ही पड़ता है। एक दफ़ा इन दोनों पतियों को राजा के हवाले कर दें। फिर राजा जानें और सेठ जानें। अपन बीच में नाहक़ क्यूँ थूक उछालें ? फिर बस्ती राम है। जो सबकी इच्छा हो, सो करो।"

तत्पश्चात् बस्ती की इच्छानुसार ही हुआ। भला अपना राम-पद वह क्यूँ छोड़ती। दोनों पतियों को रस्सियों से बाँधकर ले चलने का फ़ैसला हुआ।

रनिवास के बाहर खड़े पति को बाँधने लगे तब उसे होश आया कि आख़िर बात कहाँ तक पहुँच चुकी है। उसने कुछ भी आनाकानी नहीं की। सीढ़ियाँ उतरते हुए कलेजा होंठों तक लाकर बोला, "मुझे एक दफ़ा सौरी में जाने दो। माँ-बेटी की ख़ैरियत तो पूछ लूँ। न जाने कैसी तबीयत है ?"

पर लोग नहीं माने। कहा, "फ़ैसला होने के बाद सारी उम्र ख़ैरियत पूछनी ही है। इतनी जल्दी क्या है ?"

लोगों का बवण्डर पैरों-पैरों आगे बढ़ा। दोनों पति बँधे हुए साथ-साथ चल रहे थे। सेठ भी जूतियाँ फटकारते हुए साथ घिसट रहा था। पगड़ी खुलकर गले में झूल रही थी। तेज़ हवा के झोंके पत्ते-पत्ते को झकझोर रहे थे। चलते-चलते उसी खेजड़ी पर भूत की नज़र पड़ी। सारे शरीर में बिजली दौड़ गई। उसके पाँव वहीं चिपक गए। सिर में उफ़ान उठने लगा। आँखों के सामने यादों के चित्र फड़फड़ाने लगे ही थे कि रस्सी का झटका लगने पर उसे होश आया। पैर आप ही बढ़ने लगे। बायाँ-दायाँ, बायाँ-दायाँ। इंसान के दिल में यादों का झंझट न रहे तो कितना अच्छा हो ! यह याद तो मानो ख़ून ही निचोड़ डालेगी।

साथ बँधे कारोबार वाले पति का मन तो निश्छल था। पर आज साँच को यह आँच कैसे लगी ! वो खुद भ्रम में पड़ गया। यह क्या लीला हुई ? साथ-साथ चलता यह शख़्स ऐसा लग रहा है गोया वो शीशे में अपना ही प्रतिबिम्ब देख रहा हो। इससे पूछने पर ही भ्रम मिट सकता है। उसके गले में फँसते-फँसते बमुश्क़िल ये शब्द बाहर

निकल पाए, "भाई मेरे, न्याय तो राम जाने क्या होगा, पर तू यह अच्छी तरह जानता है कि मैं ही सेठजी का लड़का हूँ। सात फेरे लेने वाला असली पति हूँ। पर तू कौन है, यह तो बता ? यह कैसा इन्द्रजाल है ? बैठे-बिठाए यह कैसी मुसीबत आ पड़ी ! बता, मुझे तो बता कि तू है कौन?"

था तो वो महाबली भूत। न्याय करने वाले पंचों की गर्दनें एक साथ मरोड़ सकता था। कई करतब कर सकता था। किसी के शरीर में घुसकर उसका सत्यानाश कर सकता था। पर चार साल तक प्रीत की ज़िंदगी जीकर उसका मानस ही बदल गया। झूठ बोलना चाहा तब भी उससे बोला नहीं गया। पर स्पष्ट सच्चाई भी कैसे कहे ! प्रियतमा की इज़्ज़त तो रखनी ही थी। उससे बेवफ़ाई कैसे करे ! युधिष्ठिर वाली मर्यादा निभायी। बोला, "मैं औरतों की देह के भीतर का सूक्ष्म जीव हूँ। उनकी प्रीत का मालिक हूँ। व्यापार और कमाई की बनिस्बत मुझे मोह-प्रीत की लालसा अधिक है।"

सात फेरों का परिणेता बेसब्री से बीच ही में बोला, "फ़ालतू बकवास क्यूँ करता है ! साफ़-साफ़ बता कि मण्डप में तूने विवाह किया था क्या ?"

"फ़क़त विवाह से क्या होता है ? विवाह की दुहाई, उम्र भर नहीं चल सकती। व्यापार वस्तुओं का होता है, प्रीत का नहीं। तुम तो प्रीत का भी व्यापार करने लगे ! इस व्यापार में ऐसी ही बरकत हुआ करती है !"

सेठ के लड़के के दिल में गोया गर्म सलाख़ें घुस गई हों। ऐसी बातें तो उसने कभी सोची ही नहीं। सोचने का मौक़ा ही कब मिला था ! आज मौक़ा भी मिला तो इस हालत में !

भीड़ का बवण्डर राजा के पास न्याय की ख़ातिर जल्दी-जल्दी आगे बढ़ रहा था कि बीच राह में रेवड़ चराता हुआ एक गड़रिया मिला। हाथ में तड़ा। लाल साफ़े से बाहर निकले बाल। घनी व काली दाढ़ी। हाथों में चाँदी के कड़े। भरपूर लम्बा क़द। रीछ की तरह सारे शरीर पर बाल ही बाल। पलकों व भौहों के बाल भी काफ़ी बढ़े हुए थे। कानों पर बालों के गुच्छे। पीले दाँत। तड़ा सामने करते हुए पूछा, "इतने सारे लोग इकट्ठे होकर कहाँ जा रहे हो ? शायद मृत्युभोज खाने के लिए यह कारवाँ निकला है ?"

दो-तीन मर्तबा समझाने पर उसे ठीक से समझ में आया कि आख़िर माजरा क्या है। होंठों की एक बाज़ू से हँसी को छलकाते कहने लगा, "इस अदना से काम की ख़ातिर बेचारे राजा को क्यूँ तकलीफ़ देते हो ? यह झमेला तो मैं ही निपटा दूँगा। तुम्हें मेरी आँखों की क़सम जो आगे एक भी क़दम रखा तो। नदी का ठण्डा पानी पीओ। कुछ आराम करो। तुम्हारे इलाक़े की तो ग़ज़ब ही क़लई खुली। कोई माई का लाल यह न्याय नहीं निपटा सका ! जूते फटकारते सीधे राजा के पास चल पड़े।"

लोगों ने भी सोचा कि अभी तो राजदरबार काफ़ी दूर है। अगर इस गँवार की अक़्ल से काम निकल जाए तो क्या हर्ज है ? वरना आगे तो जाना ही है। वे मान गए। तब गड़रिये ने बारी-बारी से दोनों के चेहरे देखे। बिलकुल एक सी शक्ल। बाल जितना भी फ़र्क़ नहीं। चंचल विधाता ने भी कैसा मज़ाक़ किया !

उन दोनों की रस्सियाँ खोलते हुए वो कहने लगा, "भले आदमियों, इन्हें इस तरह बाँधने की क्या ज़रूरत थी ? इस भीड़ से बचकर ये कहाँ जाते ?"

फिर मुखिया की तरफ़ देखकर पूछा, "ये गूँगे-बहरे तो नहीं हैं ?"

मुखिया ने जवाब दिया, "नहीं, ये तो बिलकुल गूंगे-बहरे नहीं हैं। बेधड़क बोलते हैं।"

गड़रिया यह बात सुनते ही ठहाका मारकर हँसा। हँसते-हँसते ही बोला, "फिर यह बेकार चक्कर क्यूँ लगाया ? इनसे वहीं पूछताछ कर लेते। दोनों में से एक तो झूठा है ही।"

पंच मन ही मन हँसे। यह गड़रिया तो निरा मूर्ख है। ये सच बोल जाते तो फिर रोना ही किस बात का था ? बस हो चुका इसके हाथों न्याय ! ऐसी न्याय करने लायक अक़्ल होती तो यह तड़ा लिये भेड़ों के पीछे ढर्र-ढर्र करते क्यूँ भटकता !

रस्सी को समेटते हुए गड़रिया कहने लगा, "समझ गया, समझ गया। बोलना तो जानते हैं पर साथ ही साथ झूठ बोलना भी सीख गए।कोई बात नहीं। सच को बाहर निकालना तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है। गले में तड़ा डालकर आँतों में फँसा हुआ सच अभी बाहर ला पटकता हूँ। देर किस बात की ! खेजड़ी की डालियाँ भी इस तड़े के सामने नहीं टिक सकतीं, फिर बेचारे सच की तो औक़ात ही क्या है ! बोलो, किसके गले में तड़ा घुसेडूँ? जो पहले मुँह खोलेगा, वो ही सच्चा है।"

भूत ने सोचा कि अगर अकेले उसी की बात होती तो कोई भी जोखिम और मुसीबत उठा लेता, पर अब भेद ज़ाहिर होने पर तो रनिवास की मालकिन को दुःख उठाना पड़ेगा। ऐसा मालूम होता तो खेजड़ी के काँटों में बिंधा रहना ही ठीक था। भूतों के छल-बल में तो वो उस्ताद था, पर इंसानों के कपट की उसे रंचमात्र भी जानकारी नहीं थी। इंसान की ज़ुबान से निकली हर बात को वो सही मानता था। तड़ा उसके गले का क्या बिगाड़ सकता है ! ऐसे सात तड़े घुसेड़कर भी यह मेरा बाल बाँका नहीं कर सकता। मेरी प्रीत झूठी हर्गिज़ नहीं हो सकती। इसमें इतना सोचने की क्या बात है ! वो तो तुरन्त मुँह फाड़ता ही नज़र आया। सेठ के लड़के ने तो होंठ ही नहीं खोले। गुस्सा तो ऐसा आया कि इस गँवार गड़रिये की चटनी बना डाले। पर कहा कुछ नहीं।

मुँह फाड़ने वाले पति की पीठ ठोंकते हुए गड़रिया बोला, "वाह रे पट्ठे, तुझ जैसे सत्यवादी आदमी को इन मूर्ख लोगों ने इतना परेशान किया ! पर मन की तसल्ली बड़ी बात है। थोड़ी-बहुत भी शक की गुंजाइश क्यूँ रहे !"

उसकी भेंड़ें काफ़ी दूरी पर अलग-अलग चर रही थीं। उनकी ओर हाथ से इशारा करते गड़रिया कहने लगा, "मैं सात तालियाँ बजाऊँ, तब तक इन तमाम भेड़ों को घेरकर इस खेजड़ी के चारों ओर जो इकट्ठा कर दे, वो ही सच्चा है।"

गड़रिये के कहते ही उस भूत ने बवण्डर का रूप धरकर पाँचवीं ताली बजने से पहले ही तमाम भेड़ों को इकट्ठा कर दिया। सेठ का लड़का मुँह लटकाए खड़ा रहा। वहाँ से हिला तक नहीं। जैसी गड़रियों की जाहिल क़ौम, वैसा ही जाहिल उनका न्याय। मानना और न मानना तो उसकी मर्ज़ी पर है।

गड़रिया बोला, "शाबाश! सच्चे पति के अलावा इतना जोश और इतनी ताक़त भला किसकी हो सकती है! अब एक आख़िरी परख और करूँगा। थोड़ा सुस्ता लो।"

तड़ा बग़ल में दबाकर छागल का मुँह खोला। एक ही साँस में गटागट सारा पानी मुँह में उड़ेलकर ज़ोर से डकार ली, फिर पेट पर हाथ फिराते कहने लगा, "सात चुटकियों के साथ ही जो इस छागल के अंदर घुस जाएगा, वो ही रनिवास का असली मालिक है। जो मेरे न्याय को ग़लत बताएगा, उसके गले की ख़ातिर मेरे तड़े का एक ही झटका काफ़ी है, यह ख़्याल रखना।"

लोगों ने तड़े के मुँह पर बँधे हँसिये की तरफ़ देखा – धार लगा हुआ। एकदम तीखा। एक झटका लगने पर दूसरे की ज़रूरत ही नहीं। खोपड़ी सीधी धूल चाटती नज़र आएगी!

लोगों को हँसिये की ओर देखने में तो वक़्त लगा, पर भूत को छागल के अंदर घुसने में कुछ भी वक़्त नहीं लगा। ये करतब तो वो जन्म से ही जानता था। बेचारे गड़रिये ने तो आज इज़्ज़त रख ली। भूत के अंदर घुसते ही गड़रिये ने फिर एक पल की भी ढील नहीं की। तुरन्त छागल का मुँह दुहाकर, रस्सी से कसकर बाँध दिया! फिर पंचों के मुँह की तरफ़ देखते गर्व से बोला, "न्याय करने में यह देर लगी! छागल तो मेरी भी जाएगी, पर न्याय करना मंज़ूर किया तो कुछ सोच-विचारकर ही किया था। चलो, अब सभी चलकर इस छागल को नदी के हवाले कर दें। उमड़ती, उथेले खाती नदी इसे आप ही रनिवास की सेज पर पहुँचा देगी। बोलो, हुआ कि नहीं खरा न्याय?"

सभी ने एक साथ सिर हिलाकर सहमति दरसायी। सेठ का लड़का तो ख़ुशी के मारे बौरा-सा गया। विवाह से भी हज़ार गुना अधिक आनन्द उसके दिल में हिलोरें लेने लगा। मारे ख़ुशी के काँपते हाथों नग-जड़ी अँगूठी खोलकर गड़रिये के सामने की। गड़रिया बग़ैर कहे ही उसके दिल की बात समझ गया, पर अँगूठी क़बूल नहीं की। काली दाढ़ी के बीच पीले दाँतों की हँसी हँसते बोला, "मैं कोई राजा नहीं हूँ, जो न्याय की क़ीमत वसूल करूँ। मैंने तो अटका काम निकाल दिया। और यह अँगूठी मेरे किस काम की! न उँगलियों में आती है, न तड़े में। मेरी भेड़ें भी मेरी तरह गँवार हैं। घास तो खाती हैं, पर सोना सूँघती तक नहीं। बेकार की वस्तुएँ तुम अमीरों को ही शोभा देती हैं।"

अब कहीं जाकर भूत को गड़रिये के उजड्ड न्याय का पता चला। पर अब हो भी क्या सकता था! बात क़ाबू के बाहर पहुँच गई थी। तो भी छागल के भीतर से चिल्लाया, "बापू, मुझ पर दया कर, एक दफ़ा बाहर निकाल दे। ज़िंदगी भर तेरा ग़ुलाम रहूँगा।"

भला, अब भूत की बात कौन सुनता ! उत्साह से भरे सभी नदी के किनारे पहुँचे। छागल को वेग से बहते पानी में फेंक दिया। प्रीत के मालिक को आख़िर बल खाती, भँवर बनाती, लहराती, उथेले खाती, कल-कल करती नदी की सेज मिली। उसका जीवन सफल हुआ। उसकी मौत सार्थक हुई।

फिर बस्ती के लोग, सेठ और सेठ का लड़का वापस दूनी गति से गाँव की ओर लौटे।

हवेली के दरवाज़े में घुसते ही सेठ का लड़का सीधा सौरी की ओर लपका। एक दाई बेटी की घी से मालिश कर रही थी। दूसरी चन्दन की कंघी से ज़च्चा के बाल सुलझा रही थी। गड़रिये के खरे न्याय की सारी दास्तान उसने एक ही साँस में सुना डाली। एक-एक शब्द के साथ ज़च्चा को ऐसा लगता गोया आग में तपा लाल-सुर्ख़ भाला उसके दिल में घोंपा जा रहा हो। प्रसव पीड़ा से भी यह पीड़ा हज़ार गुना अधिक थी। पर उसने न तो उफ़ की और न कोई निःश्वास ही उसके मुँह से निकला। पाषाण-पुतली की तरह गुमसुम सुनती रही।

दिल की सारी भड़ास निकालने के बाद वो कहने लगा, "पर तुम इस क़दर परेशानी में क्यूँ पड़ गईं? जन्म देने वाले माँ-बाप भी जब नहीं पहचान सके तो भला तुम कैसे पहचानतीं ? इसमें तुम्हारी कुछ भी ग़लती नहीं है। पर नालायक़ भूत में लच्छन मुताबिक़ ख़ूब बीती। छागल में घुसने के बाद बहुत गिड़गिड़ाया, बहुत रोया पर फिर तो राम का नाम लो। हम ऐसे नादान कहाँ ! आख़िर नदी में फेंकने पर उससे पिण्ड छूटा और उसका चिल्लाना बंद हुआ। हरामज़ादा, फिर कभी छल नहीं करेगा।"

तत्पश्चात् घर वालों ने जैसा कहा, ज़च्चा ने वैसा ही किया। कभी किसी बात का पलटकर जवाब नहीं दिया। किसी भी काम में आनाकानी नहीं की। उसकी ख़ातिर सास ने जितने भी लड्डू वग़ैरह बनाये उसने चुपचाप खा लिए। जब सास ने कहा, तब सिर धोया, सूरज पूजा। ब्राह्मण ने हवन किया। औरतों ने गीत गाये। गुड़ की मांगलिक लपसी बनी। तालाब पर जाकर जल-देवता की पूजा की। पीली चुन्दरी ओढ़ी। बेटी को पालने में झुलाया। जल भरे घड़े पूजे। कुंकुम से आँगन उरेहा। मेहंदी लगायी। जैसा कहा, वैसा सिंगार किया। आभूषण पहने। ऐसी सुलच्छनी बहू तो सौभाग्य से ही मिलती है।

जल-पूजन की रात्रि को बहू पीली चुन्दरी ओढ़कर झाँझर की झंकार करती हुई रनिवास की सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। गोद में बच्ची। आँचल में दूध। आँखें सूनी। हृदय सूना। सिर में मानो अनगिनत झींगुर गुंजार कर रहे हों। पति इंतज़ार में फूलों की सेज पर बैठा था। इस एक ही रनिवास में राम जाने उसे कितने जीवन भोगने पड़ेंगे ? पर आँचल से दूध पीती यह बच्ची बड़ी होकर औरत का ऐसा जीवन न भोगे तो माँ की सारी तकलीफ़ें सार्थक हो जाएँ। इस तरह तो जानवर भी आसानी से अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ इस्तेमाल नहीं किये जाते। एक दफ़ा तो सिर हिलाते ही हैं। पर औरतों की अपनी मर्ज़ी होती ही कहाँ है ! मसान न पहुँचे तब तक रनिवास और रनिवास छूटने पर सीधी मसान !

❖❖❖